प्रकाशक—

ला० जौहरीमल जैन सर्राफ़

मन्त्री जैन बाल विधवासहायक सभा,

दरीबा कलाँ, देहली
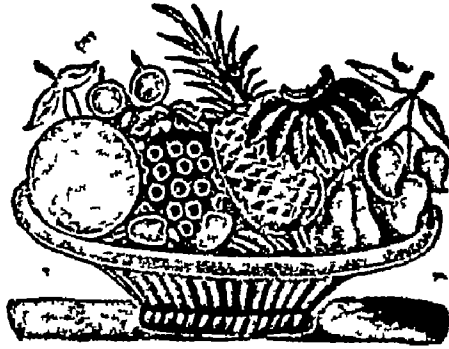
मुद्रक—

शान्तिचन्द्र जैन,

"चैतन्य" प्रिन्टिङ्ग प्रेस,

बिजनौर (यू० पी०)

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०	१६	डीप्	ङीप्
२०	१६	टीप्	टाप्
२१	२६	पदत्रायं	यदत्रायं
२६	१३	वह पुरुष मदोन्मत्त	वे पुरुषत्व-मदोन्मत्त
२८	८	मैं	के लिये
३४	१७	वृषाल	वृषल
३८	४	निमय	नियम
४१	१६	सिंहों	सिंहो
४१	२०	यात्यानश्च	यात्यनिश्च
४१	२२	स पप	स पत्र
४६	२१	खुद ही	खुद
४८	१७	चाहियें	चाहिये
४६	११	छेट्टक	छेदक
७१	१८	भोक्ती	भोक्त्री
१३२	४	युक्ति से जीतने पर	युक्ति से न जीतने पर
१७६	१५	सन्धेर	अन्धेर
१८०	२५	क	को
१८२	८	नावबी	नवाबी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८२	२३	मूलाकार	मूलाचार
१८२	२७	मूलापार	मूलाचार
१८३	६	मूलापार	मूलाचार
१८५	७	कुमि	कुंमि
१८८	५	आदि	अनादि
१९३	१	व्यभिचार नहीं है	व्यभिचार भी नहीं है
२०४	१३	अपतिरन्या	अपनिरन्यां
२०६	१	प्रप्रोग	प्रयोग
२११	१	व्याख्यास्यायः	व्याख्यास्यामः
२१३	२०	सुखावस्थैविमुक्ता	सुखावस्थै विमुक्ता
२१४	१२	चिसका	जिसका
२२७	१२	सद्धा	रुद्धा
२२६	८	निरोग	नीरोग
२२६	६	निरोग	नीरोग

* आवश्यक निवेदन *
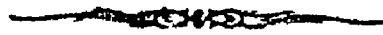
जैन समाज और हिन्दू समाज की घटी का मुख्य कारण विधवाविवाह से घृणा करना व उसको व्यभिचार या पाप समझना है। लाखों ही संतान बिन विवाहे कुमारे रह जाते हैं, क्योंकि उनको कन्याएँ नहीं मिलतीं· इसलिये वे जब मरते हैं तब अपने घरों में सदा के लिये ताले लगा जाते हैं। उधर विधुर पुरुष अपने एक जीवन में कई २ बार शादियां करते हैं, वृद्ध होने पर भी नहीं चूकते हैं; जिसका फल यह होता है कि बहुत सी युवान विधवाएँ बिना सन्तान रह जाती है। कोई जो धनवान होती हैं वे गोद ले लेती हैं शेष अनेक निःसंतान मरकर अपने घरमें ताला देजाती हैं। इस तरह कुवांरे पुरुषोंके कारण व बहुसंख्यक विधवाओं के कारण जैन समाज तथा हिन्दू समाज बड़े वेग से घट रहा है। जहां २५ वर्ष पहले १०० घर थे वहां अब ४०-५० ही घर पाए जाते हैं। जैपुर में २५ व ३० वर्ष पहले जैनियों के ३००० घर थे, अब मात्र १८०० ही रह गए हैं। उधर युवान विधवाओं को अनेकों गुप्त पापों में फँसकर घोर व्यभिचार व हिंसा के पाप में सनना पड़ता है। वे ब्रह्मचर्य के भार को न सह सकने के कारण पतित हो जाती हैं।

यह सब वृथा ही कष्ट व हानि उठाई जा रही है, केवल

इस ही विचार से कि विधवाविवाह की इज़ाज़त जैन सिद्धांत व हिन्दू शास्त्र नहीं देता। हिन्दु शास्त्रों में तो अथर्ववेद व स्मृतियों में पुनर्विवाह का स्पष्ट कथन है। जैन सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध है या असिद्ध इस प्रश्न को माननीय वैरिष्टर चम्पतराय जी ने उठाया था। उसका समाधान 'सव्यसाची' महोदय ने बड़ी ही अकाट्य व प्रौढ युक्तियों के द्वारा देकर यह सिद्ध कर दिया था कि विधवाविवाह कन्या-विवाह के समान है व इससे गृहधर्म में कोई बाधा नहीं आती है। यह सब समाधान 'जैनधर्म और विधवाविवाह' नामक ट्रैक्ट में प्रकाशित हो चुका है। इस समाधान पर पण्डित श्रीलालजी पाटनी अलीगढ़ तथा पं० विद्यानन्द शर्मा ने आक्षेप उठाए थे—उनका भी समाधान उक्त सव्यसाचीजी ने 'जैन जगत' में प्रकाशित कर दिया है। वही सब समाधान इस पुस्तक में दिया जाता है, जिसे पढ़कर पाठकगण निःशंक हो जावेंगे कि विधवाविवाह न तो व्यभिचार है और न पाप है—मात्र कन्याविवाह व विधुर-विवाह के समान एक नीति पूर्ण लौकिक कार्य है—इतना ही नहीं—यह उस अबला को व्यभिचार व हिंसा के घोर पापों से बचाने वाला है। सर्व ही जैन व हिंदू भाइयों को उचित है कि इस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ें। उनका चित्त बिलकुल मानलेगा कि विधवाविवाह निषिद्ध नहीं है किन्तु विधेय है।

पाठकों को उचित है कि भारत में जो गुप्त व्यभिचार व हिंसा विधवाओं के कारण हो रही है उसको दूर करावें—

उसका उपाय यही है कि हर एक कुटुम्ब अपने २ घर में जो कोई विधवा हो जाय उससे एकान्त में बात करें। यदि उस की बातचीत से व उसके रहन सहन के ढंग से प्रतीत हो कि यह ब्रह्मचर्य व्रत को पाल लेगी तब तो उसे वैराग्य के साधनों में रख देना चाहिये और जो कोई कहे कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं पाल सकती है तब जो उसके संरक्षक हों—चाहे पिता घर वाले चाहे श्वसुर घर वाले—उनका यह पवित्र कर्त्तव्य है कि उसको कन्या के समान मानकर उसका विवाह योग्य पुरुष के साथ कर देवें। स्त्री लज्जा के कारण अपने मनका हाल स्पष्ट नहीं कहती है। उसके संरक्षकों का कर्तव्य है कि उसकी शक्ति के अनुसार उसके जीवन का निर्णय करदें।

समाज की रक्षा चाहने वाला—

मन्त्री

* धन्यवाद *

इस ट्रैक्ट के छपवाने के लिये निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता प्रदान की है, जिनको सभा हार्दिक धन्यवाद देती है, साथ ही समाज के अन्य स्त्री पुरुषों से निवेदन करती है कि वे भी निम्न श्रीमानों का अनुकरण करके और अपनी दुखित बहिनों पर तरस खाकर इसी प्रकार सहायता प्रदान करने की उदारता दिखलावें :—

२५) ला० धनकुमार जी जैन कानपुर।
२५) गुप्तदान (एक जैन) कानपुर।
२०) गुप्तदान (एक वकील) लखनऊ।
१०) ला० रामजीदास सदर बाजार देहली।
१०) बा० उलफतराय इंजीनियर देहली।
१०) बा० महावीर प्रसाद देहली।
१०) ला० किशनलाल देहली।
१०) ला० गुलाबसिंह वजीरीमल देहली।
१०) ला० भोलानाथ मुखतार बुलन्दशहर।
१०) बा० माईदयाल बी० ए० आनर्स अम्बाला।
१०) ला० केशरीमल श्रीराम देहली।
१०) ला० ललताप्रसाद जैन अमरोहा।
१०) बा० पचमलाल जैन तहसीलदार जबलपुर।
१०) ला० विशम्भर दास गार्गीय झांसी।
१०) गुप्तदान (एक बाबू साहब) देहली।
१०) गुप्तदान (एक बाबू साहब) कैराना।
१०) गुप्तदान (एक ठेकेदार साहब) देहली।
१०) गुप्तदान (एक रईस साहब) बिजनौर।
५) गुप्तदान (एक सर्राफ़) देहली।
५) गुप्तदान (एक जैन) गोहाना।

विधवाविवाह और जैनधर्म !

आक्षेपों का मुंह तोड़ उत्तर

सबसे पहिली और मुद्दे की बात मैं पाठकों से यह कह देना चाहता हूँ कि मेरे खयाल से जैनधर्म पारलौकिक उन्नति के लिये जितना सर्वोत्तम है उतना ही लौकिक उन्नति के लिये सुविधाजनक है। समाज की उन्नति के लिये और समाज की रक्षा के लिये ऐसा कोई भी रीतिरिवाज नहीं है जोकि जैनधर्म के प्रतिकूल हो। जैनधर्म किसी घूसखोर व अन्यायी मजिस्ट्रेट की तरह पक्षपात नहीं करता जिससे पुरुषों के साथ वह रियायत करे और स्त्रियों को पीस डाले। स्त्रियों के लिये और शूद्रों के लिये उसने वही सुविधा दी है जो कि पुरुषों के लिये और द्विजों के लिये‡। जैनधर्म की अनेक खूबियों में ये

---

‡ इस पैराग्राफ़ के प्रत्येक वाक्य को मैं अच्छी तरह विचार कर लिख रहा हूँ। इसमें मैंने उत्तेजना या अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया है। इसके किसी वाक्य या शब्द के लिये अगर कोई नया आन्दोलन उठाना पड़े तो मैं उसके लिये भी तैयार हूँ। अगर कोई महाशय आक्षेप करने का कष्ट करें तो बड़ी कृपा होगी, क्योंकि इस बहाने से एक आन्दोलन को खड़ा करने का मौक़ा मिल जायगा। —लेखक

दोनों खूबियाँ बहुत बड़ी खूबियाँ हैं। सामाजिक-रक्षा और उन्नतिके साथ आत्मिक-रक्षा और उन्नतिके लिये सुविधा देना और किसीके अधिकारको न छीनना, ये दोनों बातें अगर जैन-धर्म में न होंगी तो किस धर्म में होंगी? अगर किसी धर्म में ये दोनों बातें नहीं है तो यह इन दोनों बातों का दुर्भाग्य नहीं है, किन्तु उस धर्मका ही दुर्भाग्य है। यह स्मरण रखना चाहिये कि **धर्मग्रन्थों में न लिखी होने से अच्छी बातों की क़ीमत नहीं घटती, किन्तु अच्छी बातें न लिखी होने से धर्मग्रन्थों की क़ीमत घटती है।**

प्रत्येक स्त्री पुरुष को किशोर अवस्था से लेकर युवा अवस्था के अन्त तक विवाह करने का जन्मसिद्ध अधिकार है। पुरुष इस अधिकार का उपयोग मात्रा से अधिक करता रहे और स्त्रियोंको जरूरत होने पर भी न करने दे; इतना ही नहीं किन्तु वह अपनी यह नादिरशाही धर्म के नाम पर—उसमें भी जैनधर्म के नाम पर—चलावे, इस अन्धेर का कुछ ठिकाना है! मुझे तो उनकी निर्लज्जता पर आश्चर्य होता है कि जो पुरुष अपने दो दो चार चार विवाह कर लेने पर भी विधवाओं के पुनर्विवाहको धर्मविरुद्ध कहने की धृष्टता करते हैं। जिस काम-देव के आगे वे नङ्गे नाचते हैं, वृद्धावस्थामें भी विवाह करते हैं, एक कसाई की तरह कन्याएँ खरीदते हैं, उसी 'काम' के आक्र-मणसे जब एक युवती विधवा दुखी होती है और अपना विवाह करना चाहती है तो ये क्रूरता और निर्लज्जता के अवतार धर्म-विरुद्धता का डर दिखलाते हैं! यह कैसी बेशरमी है!

विधवाविवाह के विरोधी कहते हैं कि पुरुषों को पुन-र्विवाह का अधिकार है और स्त्रियों को नहीं। ऐसे अत्याचार-

पूर्ण अहङ्कार के ये लोग शिकार हो रहे हैं, जब कि विधवा-विवाह के समर्थक इस विषय में स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देना चाहते हैं। विधवाविवाह के समर्थक, पुरुष होने पर भी अपने विशेषाधिकार, बिना स्त्रियों की प्रेरणा के, छोड़ना चाहते हैं। स्त्रियों के दुःख से उनका हृदय द्रवित है; इसीलिये स्वार्थी पुरुषों के विरोध करने पर भी वे इस काम में लगे हैं। अपमान तिरस्कार आदि की बिलकुल पर्वाह नहीं करते। विधवाविवाह-समर्थकों की इस निस्वार्थता, उदारता, त्याग, दया, सहनशीलता, कर्तव्यपरायणता और धार्मिकता को विधवाविवाह के विरोधी कोटिजन्म तप तपने पर भी नहीं पा सकते। ये स्वार्थ के पुतले जब विधवाविवाह समर्थकों को स्वार्थी कह कर "उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे" की कहावत चरितार्थ करते हैं तब इनकी धृष्टता की पराकाष्ठा हो जाती है। शैतान जब उलट कर ईश्वर से ही शैतान कहने लगता है तब उस की शैतानियत की सीमा आजाती है। विधवाविवाह के विरोधी शैतानियत की ऐसी ही सीमा पर पहुँचे हैं।

समाज के भीतर छिपी हुई इस शैतानियत को दूर करने के लिये, मैंने विधवाविवाह के समर्थन में वैरिष्टर चपतरायजी के प्रश्नों के उत्तर दिये थे। उसके खडन का प्रयास जैनगज़ट द्वारा दो महाशयों ने किया है—एक तो पं० श्रीलाल जी अलीगढ़, दूसरे प०विद्यानन्दजी रामपुर। उन दोनों लेखों को अनावश्यक रूपसे बढ़ाया गया है। लेख में व्यक्तित्व के ऊपर बड़ी असभ्यता के साथ आक्रमण किया गया है। असभ्यता से पेश आने में कोई बहादुरी नहीं है। इसलिए असभ्य शब्दों का उत्तर मैं इस लेख में न दूँगा।

उन दोनों लेखकों से जहां कुछ भी खडन नहीं बन पड़ा है वहाँ उन्होंने "छिछि", "धिक् धिक्", "यह तो घृणित है",

आदि शब्दों की भरमार की है। ऐसे शब्दों का भी उत्तर न दिया जायगा। विद्यानन्दजी ने मेरे लेख के उद्धरण अधूरे अधूरे लिये हैं और कहीं कहीं अत्यावश्यक उद्धरण छोड़ दिया है। इस विषय में तो मैं पं० श्रीलाल जी को धन्यवाद दूंगा जिन्होंने मेरे पूरे उद्धरण लेने में उदारता दिखलाई। उद्धरण अधूरा होने पर भी ऐसा अवश्य होना चाहिये जिससे पाठक उलटा न समझलें।

दोनों लेख लम्बे लम्बे हैं। उनमें बहुत सी ऐसी बातें भी हैं जिनका विधवाविवाह के प्रश्न से सम्बन्ध नहीं है, परन्तु दोनों महाशयों के सन्तोषार्थ में उन बातों पर भी विचार करूंगा। इससे पाठकों को भी इतना लाभ जरूर होगा कि वे जैनधर्म की अन्यान्य बातों से भी परिचित हो जावेंगे। मेरा विश्वास है कि वह परिचय अनावश्यक न होगा।

चम्पतरायजी के ३१ प्रश्नों के उत्तर में जो कुछ मैंने लिखा था उसके खण्डन में दोनों महाशयोंने जो कुछ लिखा है, उसका सार मैंने निकाल लिया है। नीचे उनके एक एक आक्षेप का अलग अलग समाधान किया जाता है। पहिले श्रीलालजी के आक्षेपों का, फिर विद्यानन्दजी के आक्षेपों का समाधान किया गया है! मैं विरोधियों से निवेदन करता हूँ या चैलेञ्ज देता हूँ कि उनसे जितना भी आक्षेप करते बने, खुशीसे करें। मैं उत्तर देने को तैयार हूँ।

पहला प्रश्न

आक्षेप (अ)—सम्यक्त्व की घातक सात प्रकृतियों में चार अनन्तानुबन्धी कषायें भी शामिल हैं। विधवाविवाह के लिये जितनी तीव्र कषाय की जरूरत है वह अनन्तानुबन्धी के उदय के बिना नहीं हो सकती। जैसे परस्त्रीसेवन अनन्तानुबंधी

के उदय के बिना नहीं हो सकता। इसलिये जब विधवाविवाह में अनन्तानुबन्धी का उदय आ गया तो सम्यक्त्व नष्ट होगया।

समाधान (अ)—जब स्त्री के मर जाने पर, पुरुष दूसरा विवाह करता है तो तीव्र रागी नहीं कहलाता, तब पुरुष के मर जाने पर स्त्री अगर दूसरा विवाह करे तो उसके तीव्र राग कामान्धता क्यों मानी जायगी ? यदि कोई पुरुष एक स्त्री के रहते हुए भी ९६ हजार विवाह करे या स्त्रियाँ रक्खे तो उस का यह काम बिना तीव्र रागके नहीं होसकता। लेकिन ९६ हज़ार पत्नियों के तीव्रराग से भी सम्यक्त्वका नाश नहीं होता, बल्कि वह ब्रह्मचर्याणुव्रती भी रह सकता है। जब इतना तीव्र राग भी सम्यक्त्व का नाश नहीं कर सकता तब पति मर जाने पर एक पुरुष से शादी करने वाली विधवा का सम्यक्त्व या अणुव्रत कैसे नष्ट होगा ? और अणुव्रत धारण करने वाली विधवा ऐसी पतित क्यों मानी जायगी कि जिससे उसे ग्रहण करने वाले का भी सम्यक्त्व नष्ट हो जावे ? विधवाविवाह से व्यभिचार उतना ही दूर है, जितना कि कुमारी विवाह से। जैसे विवाह होने के पहिले कुमार और कुमारियों का संभोग भी व्यभिचार है, किन्तु विवाह होने के बाद उन दोनों का संभोग व्यभिचार नहीं कहलाता, उसी तरह विवाह होने के पहिले अगर विधवा सम्भोग करे तो व्यभिचार है, परन्तु विवाह के बाद होने वाला सम्भोग व्यभिचार नहीं है। गृहस्थों के लिये व्यभिचार की परिभाषा यही है कि—"जिसके साथ विवाह न हुआ हो उसके साथ सम्भोग करना"। यदि विवाह हो जाने पर भी व्यभिचार माना जायगा तो विवाह की प्रथा बिलकुल निकम्मी हो जायगी और आजन्म ब्रह्मचारियों को छोड़ कर सभी व्यभिचारी साबित होंगे।

तीव्रता मन्दता की दृष्टि से सकषाय प्रवृत्ति छः भागों में बाँटी गई है, जिन्हें कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल शब्दों से कहते हैं। इनमें सबसे ज़्यादा तीव्र कृष्ण लेश्या है। लेकिन कृष्ण लेश्या के हो जाने पर भी सम्यक्त्व का नाश नहीं होता। इसीलिये गोम्मटसार में लिखा है—

"अयदोत्ति छ लेस्साओ"

अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि जीव तक छहों लेश्याएँ होती हैं। अगर विधवाविवाह में कृष्ण लेश्यारूप परिणाम भी होते तो भी सम्यक्त्व का नाश नहीं हो सकता था। फिर तो विधवाविवाह में शुभ लेश्या रहती है, तब सम्यक्त्व का नाश कैसे होगा?

आक्षेपक ने परस्त्रीसेवन अनन्तानुबन्धी के उदय से बतलाया है। यह बात भी अनुचित है। मैं परस्त्रीसेवन का समर्थन नहीं करता, किन्तु आक्षेपक की शास्त्रीय नासमझी को दूर कर देना उचित है। परस्त्री सेवन अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होता है। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशव्रत-अणुव्रत की घातक है और अणुव्रत के घात होने पर ही परस्त्री सेवन होता है। आक्षेपक को यह जानना चाहिये कि अणुव्रती, पांच पापों का त्यागी होता है न कि अविरत सम्यग्दृष्टि। खैर! मुझे व्यभिचार की पुष्टि नहीं करना है। व्यभिचार और विधवाविवाह में बड़ा अन्तर है। व्यभिचार अप्रत्याख्यानावरण और विधवा विवाह * प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होता है। ऐसी हालत में विधवा

* मेरे पहिले लेखमें इस जगह अप्रत्याख्यानावरण छप गया है। पाठक सुधारकर प्रत्याख्यानावरण करलें। —लेखक

विवाहको अनन्तानुबन्धीके उदयसे मानना और उससे सम्यक्त्व नाश की बात कहना बिलकुल मिथ्या है।

आक्षेप (आ)—परस्त्री सेवन सप्त व्यसनों में है। सम्यक्त्वी सप्त व्यसन सेवी नहीं होता। विधवाविवाह परस्त्री-सेवन है। इसलिये त्रिकालमें सम्यक्त्वीके नहीं हो सकता।

समाधान—परस्त्री-सेवन व्यसनों में शामिल जरूर है, परन्तु परस्त्री सेवी होने से ही कोई परस्त्री व्यसनी नहीं हो जाता। परस्त्री-सेवन व्यसन का त्याग पहिली प्रतिमामें माना जाता है, परन्तु परस्त्री सेवन पहिली प्रतिमामें भी हो सकता है, क्योंकि परस्त्रीसेवन का त्याग दूसरी प्रतिमा में माना गया है। यहां आक्षेपक को व्यसन और पाप का अन्तर समझना चाहिये। अविरत सम्यग्दृष्टि को पहिली प्रतिमा का धारण करना अनिवार्य नहीं है। इस लिये सप्तव्यसन का त्याग भी अनिवार्य न कहलाया। हाँ, अभ्यास के रूप में वह बहुत सी बातों का त्याग कर सकता है, परन्तु इस से वह त्यागी या व्रती नहीं कहला सकता। खैर, सम्यक्त्वी परस्त्री-सेवी रहे या परस्त्री-त्यागी, परन्तु सम्यक्त्व का विधवा विवाहसे कोई विरोध नहीं होसकता, क्योंकि विधवा-विवाह परस्त्री सेवन नहीं है। यह बात मैं "अ" नम्बर के समाधान में सिद्ध कर चुका हूँ।

आक्षेप (इ)—यह नियम करना कि सातवें नरक में सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता, लेखक की अज्ञता है। क्या वहाँ क्षायिक सम्यक्त्व हो जाता है? नरकों में नारकी अपने किये हुए पापों का फल भोगते हैं। यदि वहां भी वे विधवाविवाह से अधिक पाप करने वाले ठहर जायँ तो उस किए हुए पाप का फल कहाँ भोगें?

समाधान—सातवें नरक में सम्यक्त्व नष्ट न होने की बात में नियम करने की बात आक्षेपकने अपने मनसे घुसेड़ दी है। सातवें नरक के नारकी के न तो सम्यक्त्व होने का नियम है न सदा स्थिर रहनेका। बात इतनी ही है कि सातवें नरक का नारकी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पैदाकर सकता है और वह सम्यक्त्व (क्षायोपशमिक) कुछ कम तेतीस सागर तक रह सकता है। तात्पर्य यह कि वहाँ की परमकृष्ण लेश्या और रौद्रपरिणामों से इतने समय तक उसके सम्यक्त्व का नाश नहीं होता। उसके सम्यक्त्वका कभी नाश ही नहीं होता—यह मैंने नहीं कहा। सातवें नरक के नारकी एक दूसरे को घानी में पेल देते हैं, भाड में भूँज देते हैं, आरे से चीर डालते हैं, गरम कडाही में पका डालते हैं! क्या ऐसे क्रूर कामों से भी विधवाविवाह का काम बुरा है? क्या उनके इन कामों से पाप बन्ध नहीं होता? सातवें नरक के नारकी यदि पापी न होते तो वे तिर्यञ्चगतिमें ही क्यों जाते? और उनका वह पाप इतना जबर्दस्त क्यों होता. कि उन्हें एक बार फिर किसी न किसी नरक में आने के लिये बाध्य करता? तत्वार्थसारके इस श्लोक पर विचार कीजिये—

न लभन्ते मनुष्यत्वं सप्तम्या निर्गताः क्षितेः।
तिर्यक्त्वे च समुत्पद्य नरकं यान्ति ते पुनः ॥१४७॥

अर्थात्—सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य नहीं हो सकता। तिर्यञ्च गति में पैदा होकर उसे फिर नरक में ही जाना पडता है।

क्या विधवाविवाह करने वालों के लिये भी शास्त्र में ऐसा कहीं विधान है? आक्षेपक की यह बात पढ़ कर हँसी आती है कि सातवें नरक के नारकी यदि ज़्यादा पाप करेंगे तो फल कहाँ भोगेंगे? तत्वार्थसार के उपर्युक्त श्लोक में बत-

लाया हुआ विधान क्या फल भोगने के लिए कम है ? हां तो सातवें नरक के नारकी जीवन भर मार काट करते हैं और उनका पाप यहाँ तक बढ़ जाता है कि नियम से उन्हें तिर्यञ्च गति में ही जाना पड़ता है और फिर नियम से उन्हें नरक में ही लौटना पड़ता है । ऐसे पापियों में भी सम्यक्त्व कुछ कम तेतीस सागर अर्थात् पर्याप्त होने के बाद से मरण के कुछ समय पहिले तक सदा रह सकता है । वह "सम्यक्त्व विधवा-विवाह करने वाले के नहीं रह सकता" । बलिहारी है इस समझदारी की !

आक्षेप (ई)—नारकियों के सप्त व्यसन की सामग्री नहीं है जिससे कि उनके सम्यक्त्व न हो और होकर भी छूट जावे । अतः यह सातवें नरक का दृष्टांत विधवाविवाह के विषय में कुछ भी मूल्य नहीं रखता ।

समाधान—आक्षेपक के कहनेसे यह तात्पर्य निकलता है कि अगर नरकों में सप्त व्यसन की सामग्री होती तो सम्यक्त्व न होता और छूट जाता (नष्ट होजाता) । वहां सप्त व्यसन की सामग्री नहीं है इसलिए सम्यक्त्व होता है और होकर के नहीं छूटता है (नष्ट नहीं होता है) । नरक में सम्यक्त्व के नष्ट न होने की बात जब हमने कही थी, तब आप बिगड़े थे । यहाँ वही बात आपने स्वीकार करली है । कैसी अद्भुत सत-र्कता है ! सातवें नरक के दृष्टांत से यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जब परम कृष्ण लेश्या वाला क्रूर कर्मा, घोर पापी नारकी सम्यक्त्वी रह सकता है तो विधवा-विवाह वाला—जो कि अणुव्रती भी हो सकता है—सम्यक्त्वी क्यों नहीं रह सकता ?

आक्षेप (उ)—पाँचों पापों में एक है सकलगी हिंसा,

सो संकल्पी हिंसा करने वाला आखेट वालों की तरह सप्त-व्यसनी है। उसके कभी सम्यक्त्व नहीं होसकता। भला जहाँ प्रशम-संवेग हो गये हों वहाँ संकल्पी हिंसा होना त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है।

समाधान—यहाँ पर आक्षेपक व्यसन और पापके भेद को भूल गया है। प्रत्येक व्यसन पाप है, परन्तु प्रत्येक पाप व्यसन नहीं है। इसलिये पापके सद्भाव से व्यसनके सद्भाव की कल्पना करना आचार शास्त्र से अनभिज्ञता प्रगट करना है। आक्षेपक अगर अपनी पार्टी के विद्वानों से भी इस व्याप्य व्यापक सम्बन्धको समझने की चेष्टा करेगा तो समझ सकेगा। आक्षेपक के मतानुसार सप्तव्यसन का त्याग दर्शन प्रतिमा के पहिले है, जब कि संकल्पी हिंसा का त्याग दूसरी प्रतिमा में है। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शन प्रतिमा के पहले और साति-चार होने से दर्शन प्रतिमामें भी सप्तव्यसन के न होने पर भी संकल्पी हिंसा है। क्या आक्षेपक इतनी मोटी बात भी नहीं समझता? 'प्रशम संवेग होजाने से संकल्पी हिंसा नहीं होती' यह भी आक्षेपक की समझ की भूल है। प्रशम संवेगादि तो चतुर्थ गुणस्थान में हो जाते हैं, जबकि संकल्पी त्रस हिंसा का त्याग पाँचवें गुणस्थानमें होता है। इससे सिद्ध हुआ कि चतुर्थ गुणस्थान में—जहाँ कि जीव सम्यक्त्वी होता है—प्रशम संवेगादि होने पर भी सङ्कल्पी त्रस हिंसा होती है। ख़ैर, आक्षेपक यहाँ पर बहुत भूला है। उसे गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत के अन्तर को समझ लेना चाहिये।

आक्षेप (ऊ)—जब पुरुष के स्त्री वेद का उदय होता है, तब विवाहादि की सूझती है। भला अप्रत्याख्यानावरण कषाय वेदनीय से क्या सम्बन्ध है?

समाधान—स्त्रीवेद के उदय से विवाहादि की सूझती है—आक्षेपक की यह बात पाठक ध्यान में रक्खें क्योंकि आगे इसी वाक्य के विरोध में स्वयं आक्षेपक ने बकवाद किया है। और, स्त्रीवेद के उदय से विवाह की नहीं, सम्भोग की इच्छा होती है। सम्भोग की इच्छा होने पर अगर अप्रत्याख्याना-वरण का उदयाभावी क्षय होता है तो वह अणुव्रत धारण कर किसी कुमारी से या विधवा से विवाह कर लेता है। अगर अप्रत्याख्यानावरण का उदयाभावी क्षय न होकर उदय ही होता है तो वह व्यभिचारी होने की भी पर्वाह नहीं करता। वेद का उदय तो विवाह और व्यभिचार दोनों के लिये समान कारण है, परन्तु अप्रत्याख्यानावरण का उदयक्षय, अथवा प्रत्याख्यानावरण का उदय, व्यभिचार से दूर रख कर उसे विवाह के बन्धन में रखता है। इसलिये विवाहके लिये अप्रत्या-ख्यानावरणके उदयाभावी क्षय का नाम विशेष रूप में लिया जाता है। बेचारा आक्षेपक इतना भी नहीं समझता कि किस कर्म प्रकृतिका कार्य क्या है? फिर भी सामना करना चाहता है! आश्चर्य!

आक्षेप (ऋ)—राजवार्तिकके विवाह लक्षण में जैसे कन्या का नाम नहीं है वैसे ही स्त्री पुरुषका नाम नहीं है। फिर स्त्री पुरुष का विवाह क्यों लिखा? स्त्री स्त्री का क्यों न लिखा?

समाधान—राजवार्तिक के विवाह लक्षणमें चारित्र मोह के उदय का उल्लेख है! चारित्र मोह में स्त्रीवेद पुरुषवेद भी है। स्त्रीवेद के उदय से स्त्री, स्त्री को नहीं चाहती—पुरुष को चाहती है। और पुरुषवेद के उदय से पुरुष, पुरुष को नहीं चाहता—स्त्री को चाहता है। इसलिये विवाह के लिये स्त्री और पुरुष का होना अनिवार्य है। योग्यता की दुहाई देकर यह नहीं कहा जा सकता कि स्त्रीवेद के उदय से कुमार के ही साथ रमण

करने की इच्छा होती है और वह कुमारी को ही होती है। इसी तरह पुरुषवेद के उदय में यह नहीं कहा जा सकता कि पुरुष को कुमारी के साथ ही रमण करने की इच्छा होती है—विधवा के साथ नहीं होती। मतलब यह कि स्त्रीपुरुष वेदोदय के कार्य में स्त्री पुरुष का होना आवश्यक है, कुमार कुमारी का होना आवश्यक नहीं है। इसीलिये राजवार्तिक के लक्षण के अर्थ में स्त्रीपुरुष का नाम लिया—कुमार कुमारी का नाम नहीं लिया।

आक्षेप (ल)—स्त्री वेद के उदय से तो स्त्री मात्र से भोग करने की निरर्गल प्रवृत्ति होती है। वह विवाह नहीं है—व्यभिचार है। जहाँ मर्यादा रूप कन्या पुरुष में स्वीकारता है वही विवाह है। कामसेवन के लिये दोनों बद्ध होते हैं। 'मैं कन्या तुम ही पुरुष से मैथुन करूँगी और मैं पुरुष तुम ही कन्या से मैथुन करूँगा' यह स्वीकारता किस की है? जबतक कि कुमार अवस्थामें दोनों ब्रह्मचारी हैं। यहाँ समयकी अवधि नहीं है, अतः यह कन्या पुरुष की स्वीकारता यावज्जीव है।

समाधान—सिर्फ स्त्रीवेद के उदय को कोई विवाह नहीं कहता। उससे तो काम लालसा होती है। उस काम लालसा को मर्यादित करने के लिये विवाह है। इसलिये स्त्रीवेद के उदय के विना विवाह नहीं कहला सकता और स्त्रीवेदके उदय होने पर भी काम लालसा को मर्यादित न किया जाय तो भी विवाह नहीं कहला सकता। काम लालसा को मर्यादित करने का मतलब यह है कि संसारकी समस्त स्त्रियोंसे काम लालसा हटाकर किसी एक स्त्रीमें नियत करना। वह स्त्री चाहे कुमारी हो या विधवा, अगर काम लालसा वहीं बद्ध हो गई है तो मर्यादा की रक्षा हो गई। सैकड़ों कन्याओं के साथ विवाह करते रहने पर भी काम लालसा मर्यादित कहलाती रहे और

समस्त स्त्रियों का त्याग करके एक विधवा में काम लालसा को बद्ध करने से भी काम लालसा मर्यादित न मानी जावे, इस नासमझी का कुछ ठिकाना भी है? आक्षेपक के कथनानुसार जैसे कन्या 'तुम ही पुरुष' से मैथुन करने की प्रतिज्ञा करती है, उसी तरह पुरुष भी तो "तुमही कन्या" से मैथुन करने की प्रतिज्ञा करता है। पुरुष तो विधुर हो जाने पर या सपत्नीक होने पर भी अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करता रहे—फिर भी उसकी 'तुम ही कन्या' की प्रतिज्ञा बनी रहे और स्त्री, पति के मर जाने के बाद भी किसी एक पुरुष से विवाह करे तो इतने में ही 'तुम ही पुरुष' वाली प्रतिज्ञा नष्ट हो जावे! वाहरे 'तुमही'!

यह 'तुम ही' का 'ही' तो बड़ा विचित्र है जो एक तरफ तो सैकड़ों बार मारे जाने पर भी बना रहता है और दूसरी तरफ ज़रा सा धक्का लगते ही समाप्त हो जाता है! क्या आक्षेपक इस बात पर विचार करेगा कि जब उसके शब्दों के अनुसार ही स्त्री और पुरुष दोनों की प्रतिज्ञा यावज्जीव थी तो पुनर्विवाह से स्त्री, प्रतिज्ञाच्युत क्यों कही जाती है और पुरुष क्यों नहीं कहा जाता है? यहाँ आक्षेपक को अपने 'यावज्जीव' और 'ही' का बिलकुल ख्याल ही नहीं रहा। इसीलिये अपनी धुन में मस्त होकर वह एक तरफा डिगरी देता हुआ कहता है—

आक्षेप (८)—जब यावज्जीव की प्रतिज्ञा कन्या करती है तो फिर पति के मरजाने पर वह विधवा हुई तो यदि पुरुषान्तर ग्रहण करती है तो अकलङ्कदेव प्रणीत लक्षण से उसका विवाह नहीं कहा जा सकता। वह व्यभिचार है।

समाधान—ठीक इसी तरह आक्षेपक के शब्दानुसार कहा जा सकता है कि जब यावज्जीव की प्रतिज्ञा पुरुष करता है तो फिर पत्नी के मर जाने पर वह विधुर हुआ। सो यदि

वह दूसरी कन्या ग्रहण करता है तो अकलङ्क देव प्रणीत लक्षण से उसका विवाह नहीं कहा जा सकता। वह व्यभिचार है।

यदि इतने पर भी पुरुष का पुनर्विवाह विवाह है, व्यभिचार नहीं है, तो स्त्री का पुनर्विवाह भी विवाह है, व्यभिचार नहीं है। आक्षेपक के शब्द ही पूर्वापरविरुद्ध होने से उसके वक्तव्य का खंडन करते हैं। वे काने की दृष्टि के समान एक तरफा तो हैं ही।

आक्षेप (पे)—राजवार्तिक के भाष्यमें विवाह के लिए कन्या शब्द का प्रयोग किया गया है। यह बात लेखक स्वयं मानते हैं।

समाधान—कन्या शब्द का अर्थ 'विवाह योग्य स्त्री है—विवाह के प्रकरणमें दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। यह बात हम पहिले लेखमें सिद्धकर चुके हैं, यहाँ भी आगे सिद्ध करेंगे। परन्तु "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय का अवलम्बन करके हमने कहा था कि कन्या शब्द, कन्या के अन्य विशेषणों की भाँति आदर्श या बहुलता को लेकर ग्रहण किया गया है। इसीलिए वार्त्तिक में जो विवाह का लक्षण किया है उस में कन्या शब्द नहीं है। टीका में कन्या-विवाह का दृष्टान्त दिया गया है, इस से कन्या का ही वरण विवाह कहलायेगा, यह बात नहीं है। अकलङ्क देव ने अन्यत्र भी इसी शैली से काम लिया है। वे वार्तिक में लक्षण करते हैं और उसकी टीका में बहुलता को लेकर किसी दृष्टान्तको इस तरह मिला देते हैं जैसे वह लक्षण ही हो। अकलङ्क देव की इस शैली का एक उदाहरण और देखिये—

संवृत्तस्य प्रकाशनम् रहोभ्याख्यानं (वार्तिक) स्त्री पुंसाभ्यां एकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशन यत् रहो·

भ्याख्यानं तद्वेदितव्यं (भाष्य)। वार्तिक में ' रहोभ्याख्यान ' का अर्थ किया गया है 'किसी की गुप्त बात प्रगट करना' परन्तु भाष्य में बहुलता की अपेक्षा लिखा गया है कि 'स्त्री पुरुष ने जो एकांतमें कार्य्य किया हो उसका प्रकाशित करना' रहोभ्याख्यान है। भाष्य के अनुसार 'स्त्री पुरुष' का उल्लेख आचार्य्य प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्डकी टीकामें, आशाधरजीनेअपने सागारधर्मामृत में भी किया है । आचार्य्य पूज्यपाद भी इसी तरह लिख चुके हैं। इस विवेचनसे आक्षेपक सरीखे लोग तो यही अर्थ निकालेंगे कि 'स्त्री-पुरुष' की गुप्त बात प्रगट करना रहोभ्याख्यान है। अन्य लोगों की गुप्त बात प्रगट करना रहोभ्याख्यान नहीं है। परन्तु विद्यानन्दि स्वामी ने श्लोक वार्तिक में जो कुछ लिखा है उससे बात दूसरी ही हो जाती है।

"संवृतस्य प्रकाशनं रहोभ्याख्यानं, स्त्री पुरुषानुष्ठित गुप्त क्रिया विशेष प्रकाशनवत्" अर्थात् गुप्त क्रिया का प्रकाशन, रहोभ्याख्यान है। जैसे कि स्त्री-पुरुष की गुप्त बात का प्रकाशन। यहाँ स्त्री पुरुष का नाम उदाहरण रूपमें लिया गया है। इससे दूसरों की गुप्त बात का प्रकाशन करना भी रहोभ्याख्यान कहलाया। यही बात रायचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित तत्वार्थ भाष्य में भी मिलती है—"स्त्री पुंसयो परस्परेणान्यस्यवा"

मेरे कहने का सार यह है कि जैसे रहोभ्याख्यान की परिभाषा में बहुलता के कारण दृष्टांत रूप में 'स्त्री पुरुष' का उल्लेख कर दिया है उसी तरह विवाह की परिभाषा में मूलमें कन्या-शब्द न होने पर भी, बहुलता के कारण उदाहरण रूप में कन्या-शब्दका उल्लेख हुआ है। जिसका अनुकरण रहोभ्याख्यान की परिभाषा के 'स्त्री पुरुष' शब्द की तरह दूसरों ने भी किया है। परन्तु विद्यानन्दि स्वामी के शब्दोंसे यह बात साफ़

ज़ाहिर होती है कि रहोऽभ्याख्यान का 'रहः' स्त्री पुरुष में ही क़ैद नहीं है और न विवाह का 'वरण' कन्या में ही क़ैद है। इसीलिये श्लोक वार्तिक में विवाहकी परिभाषा में 'कन्या' शब्द का उल्लेख ही नहीं है।

इस ज़रासी बात को समझाने के लिये हमें इतनी पंक्तियाँ लिखनी पड़ी है। पर करें क्या ? ये आक्षेपक लोग इतना भी नहीं समझते कि किस ग्रन्थ की लेखन शैली किस ढङ्ग की है। ये लोग 'धर्म-विरुद्ध, धर्म-विरुद्ध' चिल्लाने में जितना समय बरबाद करते हैं उतना अगर शास्त्रों के मनन करने में लगावें तो योग्यता प्राप्त होने के साथ सत्य की प्राप्ति भी हो। परन्तु इन्हें सत्य की परवाह हो तब तो !

आक्षेप—(औ) जो देने के अधिकारी है वे सब उप-लक्षणसे पितृ सदृश है। उनके समान कन्याके स्थानमें विधवा जोडना सर्वथा असंगत है। क्योंकि विधवा के दान करने का अधिकार किसी को नहीं है। अगर पुरुष किसी के नाम वसीयत कर जाय तो यह कल्पना स्थान पा सकती है।

पिता ने कन्या जामाता को दी, अगर जामाता फिर किसी दूसरे पुरुषको देना चाहे तो नहीं दे सकता है, फिर दूसरा कौन दे सकता है ?

समाधान-जिस प्रकार देने के अधिकारी उपलक्षण से पितृ सदृश है उसी प्रकार विवाह योग्य सभी स्त्रियाँ कुमारी सदृश है, इस में न कोई विषमता है न असङ्गतता। आक्षेपक का हृदय इतना पतित है कि वह स्त्रियों को गाय, भैंस आदि की तरह सम्पत्ति या देने लेने की चीज समझता है। इसीलिए वह लिखता है "कन्या पिता की है, पिता न हो तो जो कुटुम्बी हों वेही उसके स्वामी है" लेकिन जैन शास्त्रों के अनुसार पिता वग़ैरह उसके संरक्षक है—स्वामी नहीं। स्त्री कोई सम्पत्ति नहीं

है यहाँ तक कि वह पति की भी सम्पत्ति नहीं है। सम्पत्ति, इच्छानुसार स्वामी को नहीं छोड सकती, जबकि स्त्री अपने 'पति' को छोड सकती है। यही कारण है कि अग्निपरीक्षा के बाद सीताजी ने राम को छोडकर दीक्षा लेली। रामचन्द्र प्रार्थना करते ही रहगये। क्या सम्पत्ति इस तरह मालिक की उपेक्षा कर सकती है? स्त्रियों को सम्पत्ति कहकर अपनी मां बहिनों का घोर अपमान करने वाले भी जैनी कहलाते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

यदि स्त्रियाँ सम्पत्ति हैं तो स्वामी के मरने पर उन का दूसरा स्वामी होना ही चाहिये, क्योंकि सम्पत्ति लावारिस नहीं रहती है। स्त्रियों को सम्पत्ति मान लेने पर तो विधवा-विवाह की आवश्यकता और भी ज़्यादः हो जाती है। हम पूछते हैं कि पति के मर जाने पर विधवा, लावारिस सम्पत्ति बनती है या उसका कोई स्वामी भी होता है। यदि आक्षेपक उसे लावारिस सम्पत्ति मानता है तब तो गवर्नमेन्ट उन विधवाओंको हथिया लेगी, क्योंकि 'अस्वामिकस्य द्रव्यस्य दायादो मेदिनी पतिः' अर्थात् लावारिस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी राजा होता है। क्या आक्षेपक की यह मन्शा है कि जैनसमाज की विधवाएँ अंग्रेज़ोंको देदी जायें? यदि वे किसीकी संपत्ति हैं तो आक्षेपक बतलावे कि वे किसकी सम्पत्ति हैं? जैसे बाप की अन्य सम्पत्ति का स्वामी उसका बेटा होता है, क्या उसी प्रकार वह अपनी मां का भी स्वामी बने? कुछ भी हो, स्त्रियों को सम्पत्ति मानने पर उनका कोई न कोई स्वामी अवश्य सिद्ध होता है और उसी को अधिकार है कि वह उस विधवा को किसी योग्य पुरुष के लिये देदे।

इस तरह स्त्रियोंको सम्पत्ति मानने का सिद्धांत जगली-पन से भरा होने के साथ विधवाविवाह-विरोधियों के लिये

आत्मघातक है। एक तरफ तो आक्षेपक कहता है कि पिताकी दी कन्या जामाता की सम्पत्ति है, दूसरी तरफ कहता है कि जामाता भी किसी को देना चाहे तो नहीं दे सकता। जब कि सम्पत्ति है तब क्यों नहीं दे सकता ? क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि स्त्री किसी की सम्पत्ति नहीं है ? स्त्रियों को सम्पत्ति मानने वाले कन्या विक्रय के साथ भार्या विक्रय, मातृ-विक्रय की कुप्रथाओं का भी सूत्रपात करते हैं। और, स्त्रियाँ किसी की सम्पत्ति हों चाहे न हों, दोनों ही अवस्थाओं में विधवाओं को विवाह का अधिकार रहता है। इस तरह विवाह योग्य सर्व स्त्रियाँ उपलक्षणसे कुमारी सदृश हैं; जैसे कन्या के सभी संरक्षक उपलक्षण से पितृसदृश।

आक्षेप (औ)—कन्या नाम स्त्री सामान्य का भी है, हम भी इसे स्वीकार करते हैं। विश्वलोचन कोष ही क्या, हेम और मेदिनी कोष भी ऐसा लिखते हैं, परन्तु जहाँ जैसा सम्बन्ध होगा, शब्द का अर्थ भी वहाँ वैसा मानना होगा।

समाधान—जब आक्षेपक कन्या का अर्थ स्त्री-सामान्य स्वीकार करता है और विवाह के प्रकरण में मैं कन्या शब्द का अर्थ 'विवाह योग्य स्त्री' करता हूँ तो इसमें सम्बन्ध-विरुद्धता या प्रकरणविरुद्धता कैसे हो गई ? विवाह के प्रकरण में विवाह योग्य स्त्री को प्रकरण-विरुद्ध कहना बुद्धि का अद्भुत परिचय देना है। भोजन करते समय सैन्धव शब्दका अर्थ घोडा करना प्रकरण-विरुद्ध है, क्योंकि घोडा खाने की चीज़ नहीं है, परन्तु विवाहयोग्य स्त्री तो विवाह की चीज है। वह विवाह के प्रकरण में प्रकरण-विरुद्ध कैसे हो सकती है ? आक्षेपक कहेगा कि विवाह तो कुमारी का ही होता है, इसलिये कन्या का कुमारी अर्थ ही प्रकरण-सङ्गत है। परन्तु यह तो आक्षेपक की मनगढंत बात है, जैनधर्म के अनुसार तो कुमारी और विधवा

दोनों का विवाह हो सकता है। इसलिये सुधारकों के लिये "विवाह योग्य स्त्री अर्थ" ही प्रकरण-सङ्गत है। आक्षेपक के समान सुधारक लोग तो जैनधर्म को तिलाञ्जलि दे नहीं सकते।

आक्षेप (श्री)—साहसगति के मुँह से सुतारा को कन्या कहलाकर कवि ने साहित्य की छटा दिखलाई है। उसकी दृष्टि में वह कन्या समान ही थी। साहसगति के भावों में सुतारा की कामवासना सूचित करने के लिये कवि ने नारी भार्या आदि न लिखकर कन्या शब्द लिखा। यदि ऐसा भाव न होता तो कन्या न लिखकर रगडा लिख देता।

समाधान—कविने रगडा इसलिये न लिखा कि सुतारा तब राँड नहीं हुई थी। साहसगति सुग्रीवसे लडकर या उसे मार कर सुतारा नहीं छीनना चाहता था—वह धोखा देकर छीनना चाहता था। इसीलिये उसने रूप-परिवर्तिनी विद्या सिद्ध की। आवश्यकता होने पर लडना पडा यह बात दूसरी है। खैर! जब तक सुग्रीव मरा नहीं तब तक सुतारा को राँड कैसे कहा जा सकता था।

दह्यमानोऽत्यन्तं कामाग्निदग्धो निःसार मानसः।
केनोपायेनतां कन्यांलप्स्ये निर्वृतिदायिनी ॥१०।१४॥

यह श्लोक हमने यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया था कि कन्याशब्द का 'स्त्री सामान्य' अर्थ भी है और इसके उदाहरण साहित्यमें मिलते हैं। आक्षेपक ने हमारे दोनों अर्थों को स्वीकार कर लिया है, तब समझमें नहीं आता कि वह उस अर्थ के समर्थन को क्यों अस्वीकार करता है। यह श्लोक विधवाविवाह के समर्थन के लिये नहीं दिया है। सिर्फ़ कन्या-शब्द के अर्थ का खुलासा करने के लिये दिया है, जो अर्थ आक्षेपक को मान्य है।

नारी, भार्या न लिखकर कन्या लिखने से कामवासना

कैसे सूचित हुई ? अगर कन्या शब्द का अर्थ कुमारी रक्खा जावे तब तो भार्याहरण की अपेक्षा कन्याहरण में कामवासना कम ही मालूम होती है।

असली बात तो यह है कि साहसगति विद्याधर दो पुत्रों की माता हो जाने पर भी सुतारा को प्रौढ़ा नहीं मानता था। उसकी दृष्टिमें उस समय भी वह परम सुन्दरी थी; उस में विवाह योग्य स्त्री के सब गुण मौजूद थे। इसीलिये उसने सुतारा को कन्या कहा। सुतारा में इस समय भी विवाहयोग्य स्त्री के समान सौंदर्यादि थे, इसलिये कविने उसे कन्या कहला कर यह बात और भी साफ करदी है कि विवाहयोग्य स्त्रीको कन्या कहते हैं। अगर कवि को यह अर्थ अभिमत न होता तो इस जगह वह 'बाला' शब्द का प्रयोग करता जिससे साहसगति की कामातुरता का चित्र और अधिक खिल जाता।

खैर, जरा व्याकरण की दृष्टिसे भी हमें कन्या शब्द पर विचार करना है। व्याकरण में पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के कई तरीके हैं। कहीं ङीप्, कहीं टीप्, कहीं इन (हिंदी में) आदि प्रत्यय लगाये जाते हैं तो कहीं शब्दोंका रूप बिलकुल बदल जाता है। जैसे पुत्र पुत्री आदि शब्दों में प्रत्यय लगाये जाते हैं जबकि माता पिता, भाई बहिन में शब्द ही बदल दिया जाता है। भाई और बहिन दोनों शब्दों का एक अर्थ है; अन्तर इतना है कि भाई शब्द से पुरुष जातीय का बोध होता है जबकि बहिन शब्द से स्त्री जातीय का। इसी तरह वर और कन्या शब्द हैं। दोनों का अर्थ एक ही है; अन्तर इतना ही है कि एक से पुरुष का बोध होता है दूसरे से स्त्री का। अपने विवाह के समय प्रत्येक पुरुष वर कहा जाता है, चाहे उस का पहिला विवाह हो, चाहे दूसरा। ऐसा नहीं है कि पहिले विवाह के समय 'वर' कहा जाय और दूसरे विवाह के समय वर न

कहा जाय। तथा हर एक कुमार को वर नहीं कह सकते। इसी प्रकार अपने विवाह के समय प्रत्येक स्त्री 'कन्या' कही जाती है, चाहे वह उसका पहिला विवाह हो चाहे दूसरा। ऐसा नहीं हो सकता कि पहिले विवाह के समय वह कन्या कही जाय और दूसरे विवाह के समय न कही जाय। मतलब यह कि विवाह कराने वाली प्रत्येक स्त्री कन्या है और विवाह न कराने वाली कुमारी भी कन्या नहीं है। अन्य प्रकरण में कन्या शब्द के भले ही दूसरे अर्थ हों, परन्तु विवाह के प्रकरण में अर्थात् वरण करने के प्रकरण में कन्या शब्द का 'विवाह कराने वाली स्त्री' अर्थ ही हो सकता है। इसी अर्थ को ध्यान में रख कर कवि ने वाहसगति के मुंह से सुतारा को कन्या कहलाया है। इसी प्रयोग से कवि ने बतला दिया है कि कवि को वाच्य वाचक सम्बन्ध का कैसा सूक्ष्म परिचय है।

कविवर ने अपने इस सूक्ष्म ज्ञान का परिचय अन्यत्र भी दिया है कि जिस से सिद्ध होता है कि कविवर, कन्या शब्द का अर्थ 'विवाह कराने वाली स्त्री' या 'ग्रहण की जाने वाली स्त्री' करते हैं। यहाँ पर कविवर ने कन्या शब्द का प्रयोग किसी साधारण पात्र के मुंह से न कराके एक अवधिज्ञानी मुनि के मुंह से कराया है।

राजा कुण्डलमण्डित ने पिंगल ब्राह्मण की स्त्री का हरण कर लिया था। जन्मान्तर की कथा सुनाते समय अवधिज्ञानी मुनिराज इस घटना का उल्लेख इन शब्दों में करते हैं—

> अहरत्पिंगलात् कन्यां तथा कुंडल मण्डितः।
> पदत्रायं पुरा वृत्तः सम्बन्ध परिकीर्तितः॥ ३०-१२३॥

अर्थात्—कुण्डलमण्डित ने पिंगल ब्राह्मण की स्त्री

का हरण किया। यह बात पहिले ही (पद्मपुराण में) कही गई है।

(कुण्डलमण्डित ने पिंगल की स्त्री का ही हरण किया था, किसी कुमारी का नहीं। यह बात पाठक पद्म-पुराण में देख सकते हैं। यहां भी वह श्लोक दिया जाता है —

भरतस्थे विदग्धाख्ये पुरे कुण्डलमण्डितः।
अधार्मिकोऽहरत्कांतां पिंगलस्यमनः प्रियां॥

॥ ३०। ६६ ॥

इस श्लोक में जिस का उल्लेख कान्ता शब्द से किया गया है, उसी का १३३ वें श्लोक में कन्या शब्द से किया गया है।

इन घटनाओं की अन्य बातों से हमें कोई मतलब नहीं। हमें तो आक्षेपक के हठ के कारण इन का उल्लेख करना पड़ा है। इस से हमें सिर्फ यही सिद्ध करना है कि कन्या शब्द का अर्थ 'ग्रहण—वरण—करने योग्य स्त्री' है। इस लिए "कन्यावरणं विवाहः" ऐसा कह कर जो विधवाविवाह का निषेध करना चाहते हैं, वे भूलते हैं।

आक्षेप—(अः) कन्या शब्द का अर्थ नारी भी है, इसलिये देवाङ्गनाओं के लिये 'देव-कन्या शब्द का प्रयोग किया गया है। यह नहीं हो सकता कि जो स्त्री दूसरा पति करे, वही कन्या कहलावे। विधवा होकर दूसरा पति ग्रहण करने वाली भी कन्या कहलाती हो सो सारे संसार में कहीं नहीं देखा जाता। जिन योरोप आदि देशों में या जिन जातियों में विधवा-विवाह चालू है, उन में भी विवाह के पूर्व लड़कियों को कन्या माना जाता है और विवाह के बाद वधू आदि।

समाधान—कुमारी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों (सधवा,

विधवा) को भी कन्या कह सकते हैं, यह बात आप पहिले स्वीकार कर चुके हैं और यहाँ भी स्वीकार कर रहे हैं। यही बात हम सिद्ध करना चाहते हैं। 'जो दूसरा पति ग्रहण करे वही कन्या है' यह तो हमारा कहना नहीं है। हम तो यह कहना चाहते हैं कि वह भी कन्या है; इस अर्थ को आप भी स्वीकार करते हैं। हाँ साहसगति विद्याधर और कुण्डलमण्डित के दृष्टान्त से यह बात अवश्य मालूम होती है कि जब कोई पुरुष किसी स्त्री को ग्रहण करना चाहता है, तभी प्रायः वह कन्या कही जाती है। अन्य अवस्थाओं में अकुमारी को कन्या कहने के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। इन उदाहरणों से तथा वर और कन्या शब्द की समानार्थकता से यह बात साफ़ मालूम होती है कि कन्या का अर्थ विवाह कराने वाली या विवाह-योग्य स्त्री है।

योरोप का उदाहरण देकर तो आप ने अपना ही विरोध किया है। आप ने कन्या शब्द का अर्थ अकुमारी स्त्री भी किया है, जब कि योरोप का उदाहरण देकर आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अविवाहिता को ही कन्या कहते हैं। परन्तु आप ने शब्दों का प्रयोग ऐसा किया है, जिस से हमारी बात सिद्ध होती है। आप का कहना है कि—योरोप में विवाह के पहिले लड़कियों को कन्या माना जाता है। इस पर हमारा कहना है कि—अगर कोई बालविधवा दूसरा विवाह करे तो उस विवाह के पहिले भी वह कन्या कहलायगी। यह तो आप बिलकुल हमारे सरीखी बात कह गये। आपने यह तो कहा नहीं है कि प्रथम विवाहके पहिले कन्या कहलाती है और दूसरे विवाह के पहिले कन्या नहीं कहलाती! ख़ैर। अब इस तर्क वितर्क के बाद सीधी बात पर आइये। योरोप में भारतीय भाषा के कन्या आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता।

अङ्गरेजी में कन्या के बदले Miss (मिस) शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु कन्या शब्द का अर्थ जब कुमारी किया जायगा तभी उसका पर्याय शब्द Miss (मिस) होगा, जब नारी अर्थ किया जायगा तब Miss (मिस) शब्द उसका पर्याय-वाची नहीं बन सकता। असली बात तो यह है कि 'वर' और 'कन्या' इसका ठीक हिंदी अनुवाद होगा 'दूल्हा' और 'दुल्हन'। जिस प्रकार 'दूल्हा' को 'वर' कहते हैं उसी प्रकार दुल्हिन को 'कन्या' कहते हैं। वर शब्द का अङ्गरेजी अनुवाद है Bride-groom (ब्राइडग्रूम); इसलिये कन्या शब्द का अनुवाद होगा Bride (ब्राइड)। विवाह के प्रकरण में कन्या शब्द का दुल्हिन अर्थात् Bride अर्थ लगाना ही उचित है। जिस प्रकार भोजन के समय सैन्धव शब्द का घोड़ा अर्थ करना पागलपन है, उसी प्रकार विवाह के प्रकरण में कन्या शब्द का कुमारी अर्थ करना पागलपन है। उस समय तो कन्या शब्दका दुल्हिन अर्थ ही होना चाहिये। वह दुल्हिन कुमारी भी हो सकती है और विधवा भी हो सकती है। इसलिये कन्या शब्दके कारण विधवाविवाह का निषेध नहीं किया जा सकता।

आक्षेप—(क) सभी देवियों को दूसरे देवों के साथ नहीं रहना पड़ता। देवी जिसे चाहे उसी देव को अपना पति नहीं बना सकती, परन्तु अपने नियोगी को ही पति बना सकती है। देवियों के दृष्टान्त से विधवाविवाह की पुष्टि न करना चाहिये। दृष्टान्त जिस विषय का है पुष्टि भी वैसी करेगा। देवाङ्गना दूसरी गति है। वे रजस्वला नहीं होतीं, गर्भधारण नहीं करतीं, उन के पलक नहीं गिरते, जब कि मनुष्यनी की ये बातें होती हैं।

समाधान—सभी देवियों को दूसरा पति नहीं करना पडता, परन्तु जिन देवियों का पति मर जाता है वे पति के

स्थान पर पैदा होने वाले अन्य देव को पति बना लेती है, यह बात तो बिलकुल सत्य है। जैसा कि आदिपुराण के निम्न लिखित श्लोकों से मालूम होता है :—

भीमः साधुः पुरे पुंडरीकिण्यां घातिघातनात्।

—पर्व० ४६। श्लो० ३४८।

रम्ये शिवंकरोद्याने पंचमज्ञान पूजित।

तस्थिवांस्तं समागत्य चतस्रो देवयोषितः॥ ४६। ३४६॥

वंदित्वाधर्ममाकर्ण्य पापादस्मत्पतिर्मृतः।

त्रिलोकेशवदास्माकं पतिः कोन्यो भविष्यति॥४६।३५०॥

पुण्डरीकपुर के शिवंकर नामक बगीचे में भीम नामक साधु को घातिया कर्मों के नाश करने से केवल ज्ञान हुआ। उन के पास चार देवाङ्गनाएं आईं। वन्दना की, धर्म सुना। फिर पूछा—हे त्रिलोकेश! पापकर्म के उदय से हमारा पति मर गया है, इसलिये कहिये कि हमारा दूसरा पति कौन होगा?

यह बात दूसरी है कि बहुतसी देवाङ्गनाओं को विधवा नहीं होना पड़ता, इससे दूसरा पति नहीं करना पड़ता। परन्तु जिन्हें करने की ज़रूरत होती है वे दूसरे पति का त्याग नहीं कर देतीं। हाँ, देवाङ्गनाएँ दूसरे देव को नहीं पकड़तीं, अपने नियोगी को ही पकड़ती हैं; सो यह बात कर्मभूमि में भी है। मध्यलोक में भी नियोगी के साथ ही दाम्पत्यसम्बन्ध होता है। हाँ, देवगति में नियोगी पुरुष और नियोगिनी स्त्री का चुनाव (नियोग = नियुक्ति) दैव ही कर देता है जबकि कर्मभूमि में नियोगी और नियोगिनी के लिये पुरुषार्थ करना पड़ता है। सो इस प्रकार का पुरुषार्थ विधवाओं के लिये ही नहीं करना पड़ता, कुमारियों के लिये भी करना पड़ता है। दैवकृत और प्रयत्नकृत नियोग की बात से हमें कुछ मतलब नहीं। देखना यह है कि देवगति में देवियाँ एक देव के मरने पर

दूसरा देव प्राप्त कर लेती हैं। इतना ही नहीं, दूसरे देव को प्राप्त करने की लालसा इतनी बढ़ जाती है कि वे थोड़ी देर भी शान्त न बैठ कर केवली भगवान के पास पूछने जाती हैं। केवली भगवान भी दूसरे पति के विषय में उत्तर देते हैं। अगर दूसरे पति को ग्रहण करना पाप होता तो वे देवियाँ धर्म श्रवण करने के बाद केवली भगवान् से ऐसा प्रश्न न करतीं। और न केवली भगवान् के पास से इस का उत्तर मिलता। जब केवली भगवान् ने उन्हें धर्म सुनाया तो उसमें यह बात क्यों न सुनाई कि दूसरा पति करना पाप है? क्या इससे यह बात साफ नहीं हो जाती कि जैनधर्म में विधवा-विवाह को वही स्थान प्राप्त है जो कुमारीविवाह को प्राप्त है। इतने पर भी जो लोग विधवाविवाह को धर्मविरुद्ध समझते हैं वह पुरुष मदोन्मत्त, मिथ्यादृष्टि नहीं तो क्या हैं? देवांगना दूसरी गति में हैं और उनके शरीर में रस रक्तादि नहीं है, तो क्या हुआ? जैनधर्म तो सब जगह है। मिथ्यात्व और दुराचार शरीर के विकार नहीं, आत्मा के विकार हैं। इस लिये शरीर की गुणगाथा से अधर्म, धर्म नहीं बन सकता। यहाँ धर्म अधर्म की मीमांसा करना है, हाड माँस की नहीं। हाड माँस तो सदा अपवित्र है, वह न तो पुनर्विवाह से अप-वित्र होता है और न पुनर्विवाह के विना पवित्र। अगर यह कहा जाय कि 'देवगति में ऐसा ही रिवाज है, इसलिये वहाँ पाप नहीं माना जाता; विधवा देवियों को ग्रहण करने वाले भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं और दूसरे देव को ग्रहण करने वाली देवियाँ, स्त्री होने से क्षायिक सम्यक्त्व तो नहीं पा सकतीं, परन्तु बाक़ी दोनों प्रकार के सम्यक्त्व प्राप्तकर सकती हैं।' यदि रिवाज होने से देवगति में यह पाप नहीं है तो यहाँ भी पुन-र्विवाह के रिवाज हो जाने पर पाप नहीं कहला सकता।

आक्षेप—(ख) दीक्षान्वय क्रिया में जो पुरुष दीक्षा ले रहा है, उसका विवाह उसी की स्त्री के साथ होता है। इससे विधवाविवाह कैसे सिद्ध होगया ?

समाधान—जो लोग कन्या शब्द का अर्थ कुमारी करते हैं और कुमारी के सिवाय किसी दूसरी स्त्री का विवाह ही नहीं मानते, उनको मुँहतोड उत्तर देने के लिये हमने दीक्षान्वय क्रिया का वह श्लोक उद्धृत किया है । दीक्षित मनुष्य भले ही अपनी स्त्री के साथ विवाह करता हो, परन्तु उस की स्त्री कन्या है कि नहीं ? यदि कन्या नहीं है तो 'कन्यावरणं विवाहः' इस परिभाषा के अनुसार वह विवाह ही कैसे कहा जा सकता है ? लेकिन जिनसेनाचार्य ने उसे विवाह कहा है। अगर वह स्त्री, विवाह होने के कारण कन्या मानी जासकती है तो विधवा भी कन्या मानी जा सकती है। सधवा तो कन्या कहला सके और विधवा कन्या न कहला सके—यह नहीं हो सकता।

आक्षेप (ग)—कन्याएँ जिस प्रकार शङ्खिनी पद्मिनी आदि होती हैं, उसी प्रकार पुरुष भी। जब स्त्री पुरुष समान गुणवाले नहीं होते तब वैमनस्य, सन्तानादि का अभाव होता है। इसलिये सागारधर्मामृत में कन्या के लिये निर्दोष विशेषण दिया है। तुम इन महत्वपूर्ण शब्दों का भाव ही नहीं समझे।

समाधान—समान गुणवाले स्त्री पुरुष होने से लाभ है। परन्तु हमारा कहना यह है कि अगर शङ्खिनी आदि भेदों की समानता नहीं पाई जाय तो विवाह धर्मविरुद्ध कहलायगा या नहीं ? यदि धर्मविरुद्ध कहलायगा तब आजकल के फी सदी ९० विवाह धर्मविरुद्ध ठहरेंगे, क्योंकि इन भेदों का विचार ही नहीं किया जाता। अन्य प्रकार के वृद्धविवाहादि अनमेलविवाह भी धर्मविरुद्ध ठहरेंगे । फिर केवल विधवाविवाह के पीछे

इतना तूफान मचाना किस काम का ? यदि अनमेल आदि विवाह धर्मविरुद्ध नहीं है तो विधवाविवाह भी धर्मविरुद्ध नहीं है । इसलिये जिस प्रकार 'निर्दोष' विशेषण सदोषा के विवाह को धर्मविरुद्ध नहीं ठहरा सकता, उसी प्रकार 'कन्या' विशेषण विधवा के विवाह का धर्मविरुद्ध नहीं ठहरा सकता। इसके लिये हमने पहिले लेख में खुलासा कर दिया है कि 'कन्या और विधवा में करुणानुयोग की दृष्टि में कुछ अन्तर नहीं है जिससे कन्या और विधवा में जुदी जुदी दो आज्ञाएँ बनाई जायें'। इस अनुयोग सम्बन्धी प्रश्न का आप कुछ उत्तर नहीं दे सके।

आक्षेप (घ)—जैन सिद्धान्त में कन्या का विवाह होना है, यह स्पष्ट लिखा है । विधवा को आर्यिका होने का या वैधव्य दीक्षा धारण करने का स्पष्ट विधान है । इसलिये विधवाविवाह का विधान व्यभिचार को पुष्टि है।

समाधान—कन्या शब्द का अर्थ 'विवाह कराने वाली स्त्री' या 'दुलहिन' है (स्त्री सामान्य आपने भी माना है ।)। दुलहिन कुमारी भी हो सकती है और विधवा भी हो सकती है, इसलिये जैन सिद्धान्त को आज्ञासे विधवाविवाह का कुछ विरोध नहीं। शास्त्रों में तो अनेक तरह की दीक्षाओं के विधान हैं, परन्तु जो लोग दीक्षा ग्रहण नहीं करते. वे धर्मभ्रष्ट नहीं कहलाते । जिनमें विरक्ति के भाव पैदा हुए हों, कषायें शांत होगई हों, वे कभी भी दीक्षा ले सकती है। परन्तु जब विरक्ति नहीं है, कषायें शान्त नहीं हैं, तब जबर्दस्ती उनसे दीक्षा नहीं लिवाई जा सकती। 'ज्यों ज्यों उपशमत कषाया, त्यों त्यों तिन त्याग बताया' का सिद्धान्त आपको ध्यान में रखना चाहिये। इस विषय की प्राय सभी बातें पहिले कही जा चुकी हैं।

आक्षेप (ङ)—प्रबोधसार में लिखा है कि 'कन्या का

दुबारा विवाह नहीं होता'। यशस्तिलक में लिखा है कि एक-बार जो कन्या स्त्री बनाई जाती है वह विवाह द्वारा फिर दुबारा स्त्री नहीं बनाई जाती'। आदिपुराण में अर्ककीर्ति कहते हैं 'कि मैं इस विधवा सुलोचना का क्या करूंगा'। नीतिवाक्यामृत में श्रेष्ठ शूद्रों में भी कन्या का एकबार विवाह माना जाता है।

समाधान—जैनगज़ट में श्लोक नहीं छपते, इस की ओट लेकर पण्डित लोग खूब मनमानी गप्पें हाँक लिया करते हैं। अगर श्लोक देने लगें तो सारी पोल खुल जाय। खैर, प्रबोधसार में तो किसी भी जगह के ४४ नम्बर के श्लोक में हमें विधवाविवाह का निषेध नहीं मिला। यशस्तिलक के श्लोक के अर्थ करने में आक्षेपक ने जान बूझकर धोखा दिया है। ज़रा वहाँ का प्रकरण और वह श्लोक देखिये।

किस तरह की मूर्ति में देवकी स्थापना करना चाहिये, इसके उत्तर में सोमदेव लिखते हैं कि विष्णु आदिकी मूर्ति में अरहन्त की स्थापना न करना चाहिये। जैसे—जब तक कोई स्त्री किसी की पत्नी है तब तक उस में (परपरिग्रहे) स्वस्त्री का सङ्कल्प नहीं किया जा सकता। कन्याजन में स्वस्त्री का सङ्कल्प करना चाहिये।

शुद्धेवस्तुनि सङ्कल्पः कन्याजन इवोचितः।
नाकारान्तर संक्रान्ते यथा परपरिग्रहे॥

मतलब यह कि मूर्ति का आकार दूसरा हो और स्थापना किसी अन्य की की जाय तो वह ठीक नहीं। हनुमान की मूर्ति में गणेश की स्थापना और गणेश की मूर्ति में जिनेन्द्र की स्थापना अनुचित है। परन्तु मूर्ति का आकार बदलकर अगर स्थापना के अनुरूप बना दिया जाय तब वह स्थापना के प्रतिकूल नहीं रहती। अन्य धर्मावलंबियों में तो पत्थरों के ढेर और पहाड़ों तक को देवता की मूर्ति मान लेते हैं। इसलिये क्या

पत्थरों के ढेर में से या पहाड़ में से किसी पत्थर की जिनेन्द्र-मूर्ति बना लेना अनुचित हो जायगा? स्थापना में सिर्फ इतना ही देखना चाहिये कि वर्तमान में यह पत्थर आकारान्तरसंक्रान्त तो नहीं है। पहिले किस आकार में था, इसके विचार की कोई जरूरत नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान में जो किसी दूसरे पुरुष की स्त्री है उसे स्वस्त्री नहीं बनाना चाहिये. जैसे कि निश्चन में अनेक पुरुष एक ही स्त्री को अपनी अपनी पत्नी बनाते हैं या जैसे कि हिंदू शास्त्रों में द्रोपदी के विषय में प्रसिद्ध है। परन्तु जो स्त्री विधवा होगई है वह तो कुमारी के समान किसी की पत्नी नहीं है। वह आकारान्तरसक्रान्त अर्थात् किसी की पत्नी थी ज़रूर, परन्तु अब नहीं है। इसलिये उसमें स्वपत्नीत्व का सङ्कल्प अनुचित नहीं है। आक्षेपक ने प्रकरण को छिपाकर, कन्या शब्द का अर्थ भुलाकर, ज़बरदस्ती भूतकाल के रूपको वर्तमान का रूप देकर या तो खुद धोखा खाया है या दूसरों को धोखा दिया है।

आचार्य सोमदेवके शब्दों से विधवाविवाह का विरोध करना दुःसाहस है। जो आचार्य अणुव्रती को वेश्यासेवन तक की खुलासी देते है वे विधवाविवाह का क्या विरोध करेंगे? बल्कि दूसरी जगह खुद उन्होंने स्त्री के पुनर्विवाह का समर्थन किया है। नीतिवाक्यामृत में वे लिखते हैं कि—'विकृत पत्यूढापि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृतिकाराः' अर्थात् शास्त्रकार कहते हैं कि जिस स्त्री का पति विकारी अर्थात् सदोष हो, वह स्त्री भी पुनर्विवाह की अधिकारिणी है। इस वाक्य के उत्तर में कुछ लोग कहा करते हैं कि यह तो दूसरों की स्मृतियों का हवाला है—सोमदेव जी इससे सहमत नहीं हैं। परन्तु सोमदेव जी अगर सहमत न होते तो उन्हें इस हवाले की जरूरत क्या थी? यदि सोमदेवजी ने विधवाविवाह का खंडन किया होता और खंडन के लिये यह वाक्य लिखा होता तब तो कह सकते थे कि वे

विधवाविवाह से सहमत न थे, परन्तु जब विधवाविवाह का वे खण्डन नहीं करते और विधवाविवाह आदि के समर्थक वाक्य को उद्धृत करते हैं तो मूर्ख से मूर्ख भी कह सकता है कि सोमदेव जी विधवाविवाह के पक्षपाती थे। दूसरी बात यह है कि स्मृति शब्द से अजैनों के धर्मशास्त्र ही ग्रहण नहीं किये जा सकते। जैनशास्त्र भी श्रुति स्मृति आदि शब्दों से कहे गये हैं, जैसाकि आदिपुराण के ४४ वें पर्व में कहा गया है—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयम् श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधि भेदेषु वरिष्ठोहि स्वयंवरः ॥४४॥३२॥

यहाँ पर जैन शास्त्रों का उल्लेख श्रुति स्मृति शब्द से हुआ है। और भी अनेक स्थानों पर ऐसा ही शब्द व्यवहार देखा जाता है। मतलब यह कि नीतिवाक्यामृत में जो स्त्री के पुनर्विवाह का समर्थक वाक्य पाया जाता है उससे सोमदेव जी तो पुनर्विवाह समर्थक ठहरते ही हैं, साथ ही अन्य जैना-चार्यों के द्वारा भी इसका समर्थन होता है। ऐसे सोमदेवाचार्य के यशस्तिलक के श्लोक से विधवाविवाह का विरोध सिद्ध करने की कुचेष्टा करना दुःसाहस नहीं तो क्या है?

पाठक अब ज़रा अर्ककीर्ति के वाक्य पर विचार करें। जब सुलोचनाने जयकुमार को वर लिया तब अर्ककीर्तिके मित्र दुर्मर्षण ने अर्ककीर्ति को समझाया—

रत्नं रत्नेषु कन्यैव तत्राप्येषैव कन्यका।
तत्त्वां स्वगृहमानीय दौष्ट्यं पश्यास्य दुर्मतेः ॥४३।५॥

रत्नों में कन्यारत्न ही श्रेष्ठ है; उसमें भी यह कन्या (पाठक यह भी ख़याल रक्खें कि जयकुमार को वर लेने पर भी सुलोचना कन्या कही जा रही है) और भी अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये तुम उसे अपने घर लाकर उस दुर्बुद्धि की दुष्टता देखो (बदला लो)।

दुर्मर्षण की बातों में आकर अर्ककीर्ति जयकुमार को मार कर उसकी वरमाला छीनने को उतारू हो गया । इसी-लिये वह कहता है कि—

द्विधा भवतु वा मा वा बलं तेन किमाशुगाः ।
मालां प्रत्यानयिष्यति जयवक्षो विभिद्यमे ॥ ४४ । ६४ ॥

अर्थात् सेना दो भागोंमें बट जाय चाहे नहीं, मेरा उस से क्या ? मेरे तो बाण जयकुमार का वक्षस्थल चीरकर वर-माला लौटा लावेंगे ।

पाठक विचार करें कि वरमाला को छीन लेना सुलो-चना को ग्रहण कर लेना था, जिसके लिये अर्ककीर्ति तैयार हुआ था। निःसन्देह यह काम वह जयकुमारसे ईर्ष्याके कारण कर रहा था । परन्तु अर्ककीर्ति का अनवद्यमति नामका मन्त्री जानता था कि सुलोचना सरीखी राजकुमारी अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी को नहीं वर सकती । इसीलिये तथा अन्य आप-त्तियों की आशङ्का से उसने अर्ककीर्ति को समझाया कि 'तुम चक्रवर्ती के पुत्र होकर के भी क्या अनर्थ कर रहे हो ? तुम्हीं से न्याय की रक्षा है और तुम्ही ऐसे अन्याय कर रहे हो ! तुम इस युग के परस्त्रीगामियों में पहिले नम्बर के परस्त्रीगामी मत बनो' ।

परदाराभिलापस्य प्राथम्यं मा वृथा कृथाः ।
अवश्यमाहताप्येषा न कन्याते भविष्यति ॥४४ । ४७॥

अनवद्यमति कीबातें सुनकर अर्ककीर्ति लज्जित तो हुआ, परन्तु जयकुमार से बदला लेने का और सुलोचना छीनने का उसने पक्का निश्चय कर लिया था, इसलिये युद्ध का प्रोग्राम न बदला । हाँ, अपनी नैतिक सफाई देने के लिये उसने अपने मन्त्री को निम्नलिखित वाक्य बोल कर झाँसा अवश्य दिया —

नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी मच्छरैरयम्।
परासुरधुनैवास्यात्किं मे विधवयानया ॥

मुझे सुलोचनामें कुछ मतलब नहीं, यह घमण्डी जय-कुमार मेरे बाणों से मर जाय। मुझे उस विधवा से क्या लेना है?

बस, अत्याचारी अर्ककीर्तिकी यह बात ही श्रीलालजी के लिए आगम बन बैठी है। आक्षेपक प्रकरण को छिपा कर इस प्रकार समाज को धोखा देना चाहता है। दुर्मर्षण ने जब सुलोचना की, कन्या-रत्न कहकर प्रशन्सा की, तब अर्ककीर्ति से नहीं कहा गया कि मैं उस विधवा का क्या करूंगा? उस समय तो मुँह में पानी आ गया था। अनवद्यमति की फट-कार से कहने लगा कि मैं विधवा सुलोचना को ग्रहण न करूंगा—मैं तो सिर्फ बदला लेना चाहता हूँ। अर्ककीर्ति की यह कोरी चाल थी तथा उससे यह नहीं मालूम होता कि वह विधवा होने के कारण उसको ग्रहण नहीं करना चाहता था। उसने तो परस्त्रीहरण के अन्याय से निर्लिप्त रहने की सफाई दी थी। प्रकरण को देखकर कोई भी समझदार कह सकता है कि इससे विधवाविवाह का खण्डन नहीं होता।

नीतिवाक्यामृत के वाक्य से विधवाविवाह का विरोध करना बड़ी भारी धोखेबाजी है। नीतिवाक्यामृत उन्हीं सोम देव का बनाया हुआ है जो विधवाविवाह का अनुमोदन करते हैं। तब सोमदेव के वाक्य से विधवाविवाह का विरोध कैसे हो सकता है? जिस वाक्य से विधवाविवाह का विरोध किया जाता है उसे आक्षेपक ने समझा ही नहीं है, या समझ कर छिपाया है। वह वाक्य यह है—

सकृत्परिणयन व्यवहाराः सच्छूद्राः।

अर्थात् अच्छे शूद्र वे हैं जो एक ही बार विवाह करते

हैं, अर्थात् एक ही स्त्री रखते हैं। यह नियम उस समय के लिये था जब अनुलोम विवाह की प्रथा ज़ोर पर थी। उच्चवर्णी, शूद्र की कन्याएँ लेते थे, लेकिन शूद्रों को देते न थे। ऐसी हालत में शूद्र पुरुष भी अगर बहुपत्नी रखने लगते तब तो शूद्रों के लिये कन्याएँ मिलना भी मुश्किल हो जाता। इसलिये उन्हें अनेक पत्नी रखने की मनाई की गई। जो शूद्र अनेक स्त्रियाँ रखते थे वे असच्छूद्र कहे जाते थे। एक प्रकार से यह नियम भङ्ग करने का दण्ड था। आक्षेपक ने स्त्रियोंके पुनर्विवाह न करने की बात न मालूम कहाँ से खींच ली? उस वाक्य की संस्कृत टीका से आक्षेपक की यह चालाकी स्पष्ट हो जाती है—

टीका—"ये सच्छूद्राः शोभनशूद्रा भवन्ति ते सकृत्परिणयनाः एकवारं कृतविवाहाः, द्वितीय न कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा च हारीतः द्विभार्योयोत्रशूद्रः स्याद्वृषालः स हिवि श्रुतः। महत्वं तस्य नो भावि शूद्र जाति समुद्भवं।"

अर्थात्—जो अच्छे शूद्र होते हैं वे एक ही बार विवाह करते हैं, दूसरा नहीं करते हैं। यही बात कही भी है कि दो पत्नी रखने वाला शूद्र वृषाल कहलाता है—उसे शूद्र जाति का महत्व प्राप्त नहीं होता।

'शूद्रों को बहुत पत्नी न रखना चाहिये', ऐसे अर्थवाले वाक्य का 'किसी को विधवाविवाह न करना चाहिये' ऐसा अर्थ करना सरासर धोखेबाजी है। यह नहीं कहा जा सकता कि आक्षेपक को इसका पता नहीं है, क्योंकि त्रिवर्णाचार की परीक्षा में श्रीयुत जुगलकिशोर जी मुख़्तार ने इसका ख़ूब ख़ुलासा किया है।

इस प्रकार पहिले आक्षेपक के समस्त आक्षेप बिलकुल निर्बल हैं। अब दूसरे आक्षेपक के आक्षेपों पर विचार किया जाता है।

आक्षेप (च)—यदि विवाह शादी से सम्यक्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं तो क्या पारसी, अंग्रेज लेडी, यवनकन्या आदि के साथ विवाह करने पर भी सम्यक्त्व का नाश नहीं होता? यदि नहीं होता तो शास्त्रोंमें विहित समदत्तिका क्या अर्थ होगा?

समाधान—पारसी अङ्गरेज आदि तो आर्य हैं। सम्यक्त्व का नाश तो म्लेच्छ महिलाओंके साथ शादी करने परभी नहीं होता। चक्रवर्ती की ३२ हजार म्लेच्छ पत्नियों के दृष्टान्त से यह बात बिलकुल स्पष्ट है। चक्रवर्तियों में शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, इन तीन तीर्थङ्करों का भी समावेश है। अन्य अनेक जैनी राजाओं ने भी म्लेच्छ और अनार्य स्त्रियों के साथ विवाह किया है। हां विवाह में इतनी बात का विचार यथासाध्य अवश्य करना चाहिये कि स्त्री जैन-धर्म पालने वाली हो अथवा जैनधर्म पालन करने लगे। इस से धर्मपालन में सुभीता होता है। इसीलिये समदत्ति में साधर्मी के साथ रोटी बेटी व्यवहार का उपदेश दिया गया है। अगर कोई पारसी, अङ्गरेज या यवन महिला जैनधर्म धारण करले तो उसके साथ विवाह करने में कोई दोष नहीं है। पुराने ज़मानेमें तो ऐसी अजैन कन्याओंके साथ भी शादी होती थी, फिर जैनकी तो बात ही क्या है? आचार शास्त्रों में लौकिक और पारलौकिक आचारों का विधान रहता है। उन का पालन करना सम्यग्दृष्टि की योग्यता और इच्छा पर निर्भर है। उन आचार नियमों के पालन करने से सम्यक्त्व आता नहीं है और पालन न करनेसे जाता नहीं है। इस लिए आचार नियमों के अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी महिलासे शादी करने से सम्यक्त्व का नाश नहीं होता।

आक्षेप (छ)—सराग सम्यक्त्व की अपेक्षा वीतराग सम्यक्त्व विशेष ग्राह्य है। फिर भी वीतराग सम्यक्त्वी में प्रशम

संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य गुण जरूर प्रकट होने चाहियें। निश्चय और व्यवहार दोनों का खयाल रखना चाहिये। व्यवहार, निश्चयका निमित्त कारण नहीं—उपादान कारण है।

समाधान—सम्यग्दृष्टिमें प्रशम सम्वेगादि होना चाहियें तो रहें। सम्यग्दृष्टि विधवाविवाह करते हुए भी प्रशम सम्वेग अनुकम्पा आस्तिक्यादि गुण रख सकता है। प्रशम से राग, द्वेष कम हो जाते हैं, सम्वेग से संसार से भय हो जाता है। इतने परभी वह हज़ारों म्लेच्छ कन्याओंसे विवाह कर सकता है,बडे २ युद्धकर सकता है और नरकमें हो तो परम कृष्णा लेश्या वाला रौद्रपरिणामी बनकर हजारों नारकियोंसे लडसकता है! तबभी उस के सम्यक्त्वका नाश नहीं होता। उसके प्रशम संवेगादि बन सकते हैं, तो विधवाविवाह वाले के क्यों नहीं बन सकते? व्यवहार निश्चय का कारण है। परन्तु विधवाविवाह भी तो व्यवहार है। जिस प्रकार कुमारी विवाह धर्म से दृढ रहने का कारण है उसी प्रकार विधवाविवाह भी है। व्यवहार तो द्रव्य क्षेत्र काल भाव के भेद से अनेक भेद रूप है। व्यवहार के एक भेद से उसी के दूसरे भेद की जाँच करना व्यवहारैकान्तवादी बन जाना है। निश्चय को कसौटी बना कर व्यवहार की परीक्षा करना चाहिये। जो व्यवहार निश्चय अनुकूल हो वह व्यवहार है, जो प्रतिकूल हो वह व्यवहाराभास है। विधवा-विवाह निश्चय सम्यक्त्व के अनुकूल अथवा अविरुद्ध है। इसलिये वह सच्चा व्यवहार है। व्यवहार सम्यक्त्व के अन्य चिन्हों के साथ भी उस का कोई विरोध नहीं है।

व्यवहार को निश्चय का उपादान कारण कहना कार्य कारण भाव के ज्ञान का दिवाला निकाल देना है। व्यवहार पराश्रित है और निश्चय स्वाश्रित। क्या पराश्रित, स्वाश्रित का उपादान हो सकता है? यदि व्यवहार निश्चय का उपादान

कारण है तो वह सिद्धों में भी होना चाहिये, क्योंकि उन के भी निश्चय-सम्यक्त्व है। परन्तु सिद्धों में रागादि परिणति न होने से सराग सम्यक्त्व हो नहीं सकता। तब वह उपादान कारण कैसे कहलाया? यदि व्यवहार निश्चय को पूर्वोत्तर पर्याय मान कर उपादान उपादेय भाव माना हो तो दोनों का साहचर्य (साथ रहना) बतलाना व्यर्थ है। तथा इस दृष्टि से तो सम्यक्त्व के पहिले रहने वाली मिथ्यात्व पर्याय भी उपादान कारण कहलायगी। तब सम्यक्त्व की उपादानता में महत्व ही क्या रह जायगा? ख़ैर, हमारा कहना तो यही है कि विधवाविवाह निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व के प्रशमादि गुणों के विरुद्ध नहीं है। इसलिये व्यवहार सम्यक्त्व की दुहाई देकर भी उस का विरोध नहीं किया जा सकता।

आक्षेप (ज)—विवाहों की अष्ट प्रकार की संख्या से बाह्य होने के कारण और इसीलिये भगवत् प्रतिपादित न होने के कारण क्या आस्तिक्य सम्यग्दृष्टि विधवाविवाह को मान्य ठहरा सकता है?

समाधान—विवाह के आठ भेदों में तो बालविवाह, वृद्ध विवाह, युवतीविवाह, सजातीयविवाह, विजातीयविवाह, अनुलोमविवाह, प्रतिलोमविवाह, सगोत्रविवाह, विगोत्र विवाह, कुमारीविवाह, विधवाविवाह, आदि किसी नाम का उल्लेख नहीं है; तब क्या ये सब आस्तिक्य के विरुद्ध हैं? तब तो कुमारी विवाह भी आस्तिक्य के विरुद्ध कहलाया, क्योंकि आठ भेदों में कुमारी विवाह का भी नाम नहीं है। अगर कहा जाय कि कुमारीविवाह, सजातीय विवाह आदि विवाहों के उपर्युक्त आठ आठ भेद हैं तो बस, विधवाविवाह के भी उपर्युक्त आठ भेद सिद्ध हुए। जैसे कुमारीविवाह

आठ तरह का हो सकता है उसी प्रकार विधवाविवाह भी आठ तरह का हो सकता है।

आक्षेप (झ)—सम्यग्दृष्टि जीव में राग द्वेष की उत्कटता का क्षयोपशम हो गया है। उस के व्रत नियम न सही, परन्तु स्वरूपाचरण चारित्र तो है, जो संसार से भयभीत, मद्यमांस आदि से विरक्त, विधवाविवाह आदि राग-प्रवृत्ति से बचाता है। यदि उस के स्वरूपाचरण चारित्र न माना जाय तो वह दुनियाँ भर के सभी रौद्र कर्म करके भी सम्यक्त्वी बना रहेगा।

समाधान—स्वरूपाचरण तो नारकियों के भी होता है, पाँचों पाप करने वालों के भी होता है, कृष्णलेश्या वालों के भी होता है। तब विधवाविवाह से ही उस का क्या विरोध है? सम्यग्दर्शन, भेद विज्ञान, स्वरूपाचरण चारित्र, ये सहचर हैं? इसलिये जो बात एक के लिए कही गई है वही तीनों के लिये समझना चाहिये। अनन्तानुबन्धी के उदय क्षय से स्वरूपाचरण होता है। इस विषय में लेख के प्रारम्भ में आक्षेप नम्बर 'अ' का समाधान देखना चाहिये।

आक्षेप (ञ)—सातवें नरक में सम्यक्त्व नष्ट न होने की बात आप ने कहाँ से लिखी?

समाधान—इसका समाधान पहिले कर चुके हैं। देखो आक्षेप नम्बर 'इ' का समाधान।

आक्षेप (ट)—सम्यग्दृष्टि जीव पञ्च पापोंगसेवी नहीं होता, किन्तु उपभोगी होता है अर्थात् उसको रुचिपूर्वक पञ्च पापों में प्रवृत्ति नहीं होती।...पाप तो सदा सर्वथा घोर पाप-बन्धन का ही कारण है। फिर तो सम्यक्त्वी को भी घोर पाप बन्ध सिद्ध हो जायगा और सम्यक्त्वीको बन्धका होना कहने पर अमृतचन्द्र सूरि के "जिस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि है उस दृष्टि से बन्ध नहीं होता" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा?

समाधान—हमने सम्यक्त्वी को पञ्चपापोपसेवी नहीं लिखा है, पाँच पाप करने वाला लिखा है। भले ही वह उपभोग हो। उसकी रुचिपूर्वक प्रवृत्ति तो पाप में ही क्या, पुण्य में भी नहीं होती। वह तो दोनों को हेय और शुद्ध परिणति को उपादेय मानता है। उसकी रुचि न तो कुमारी-विवाह में है न विधवा-विवाह में, किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय से वह अरुचिपूर्वक जैसे कुमारीविवाह करता है उसी प्रकार विधवाविवाह भी करता है। उसकी अरुचि विधवाविवाह को रोके और कुमारी विवाह को न रोके, यह कैसे हो सकता है? आक्षेपक का कहना है कि "पाप तो सदा सर्वथा घोर पाप-बन्धका कारण है", तब तो सम्यग्दृष्टि को भी घोर पापबन्ध का कारण होगा; क्योंकि वह भी पापोपभोगी है। लेकिन आक्षेपक सम्यग्दृष्टिको घोर पाप बन्ध नहीं मानता। तब उस का 'सदा सर्वथा' शब्द आपही खण्डित हो जाता है। अमृत-चन्द्र का हवाला देकर तो आक्षेपक ने बिलकुल ऊटपटाँग बका है, जिस से विधवाविवाह विरोध का कोई ताल्लुक नहीं। सम्यक्त्व तो बन्ध का कारण है ही नहीं, किन्तु उसके साथ रहने वाली कषाय बन्ध का कारण जरूर है। यही कारण है कि अविरत सम्यग्दृष्टि ७७ प्रकृतियों का बन्ध करता है जिन में बहुभाग पाप प्रकृतियों का है। सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण होने से उस के १६+२५=४१ प्रकृतियों का बन्ध रुकता है। सम्यग्दृष्टि जीव अगर विधवाविवाह करे तो उसके इन ४१ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होगा। हां, बाकी प्रकृतियोंका बन्धहो सकेगा। सो वह तो कुमारी विवाह करने पर भी हो सकेगा और विवाह न करने पर भी हो सकेगा। हमारा कहना तो यही है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव—अरुचि पूर्वक ही सही—

पाँचों पाप कर सकता है, कुमारीविवाह कर सकता है, तब विधवाविवाह भी कर सकता है।

आक्षेप (ठ)—विधवाविवाह इसीलिए अधर्म नहीं है कि वह विवाह है बल्कि इस लिए अधर्म है कि आगम विरुद्ध है। "कोई प्रवृत्यात्मक कार्य धर्म नहीं है' यह लिखना सर्वथा असङ्गत और अज्ञानतापूर्ण है। विवाहको निवृत्यात्मक मानना भी व्यर्थ है। अगर निवृत्यात्मक होता तो पाँचवें गुणस्थान के भेदोंमें निवृत्तिरूप ब्रह्मचर्य प्रतिमाकी आवश्यकताही क्या थी?

समाधान—विधवाविवाह आगमविरुद्ध नहीं है, यह हम सिद्ध कर चुके है और आगे भी करेंगे। यहाँ हमारा कहना यही है कि अगर विवाह अधर्म नहीं है तो विधवाविवाह भी अधर्म नहीं है। अगर विधवाविवाह अधर्म है तो विवाह भी अधर्म है। सच पूछा जाय तो जैनधर्म के अनुसार कोई भी प्रवृत्यात्मक कार्य धर्म नहीं है। क्योंकि धर्म का मतलब है रत्नत्रय या सम्यक्चारित्र। सम्यक्चारित्रका लक्षण शास्त्रकारों ने "वाह्याभ्यन्तर क्रियाओं की निवृत्ति" किया है: जैसे कि—
"संसार कारण निवृत्तिम्प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः वाह्याभ्यन्तर क्रिया विशेषो परमः सम्यक्चारित्रम्" (राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि)

भवहेतु प्रहाणाय वहिरभ्यन्तरक्रिया—
विनिवृत्तिः परं सम्यक् चारित्रम् ज्ञानिनो मतम्।
—श्लोक वार्तिक।

वहिरब्भंतर किरिया रोहो भवकारण पणासट्ठम्।
णाणिस्स ज जिणुत्त तं परमम् सम्मचारित्तम्॥
—द्रव्यसंग्रह।

चरणानुयोग शास्त्रों में भी इसी तरह का लक्षण है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यांच ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ४६ ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार ।

ज़्यादा प्रमाण देने की ज़रूरत नहीं । प्रायः सर्वत्र चारित्र का लक्षण निवृत्यात्मक ही किया है । हाँ ! व्यवहारनय से प्रवृत्यात्मक लक्षण का भी उल्लेख मिलता है; जैसे—

असुहादो विणिवित्ती सुह पवित्तीय जाण चारित्तं ।
वदसमिदि गुत्तिरूव ववहारणयादुजिण भणिय ॥

—द्रव्यसंग्रह ।

यहाँ पर अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को व्यवहारनय से चारित्र कहा गया है । परन्तु व्यवहारनय से कहा गया चारित्र, वास्तविक चारित्र नहीं है । क्योंकि व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ (अवास्तविक) है । अमृतचन्द्राचार्य ने इस का बहुत ही अच्छा ख़ुलासा किया है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्य भूतार्थम् ।
भूतार्थ बोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥
अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा वर्णयन्त्य भूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य ।
व्यवहार एवहि तथा निश्चयतां यात्यानश्चयज्ञस्य ॥
व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्यतत्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः सपयफलमविकलमृशिष्यः ॥

अर्थात्—वास्तविकता को विषय करने वाला निश्चयनय है और अवास्तविकता को विषय करने वाला व्यवहारनय है । प्रायः समस्त संसार वास्तविकता के ज्ञान से रहित है । अल्पबुद्धि वाले जीवों को समझाने के लिये व्यवहारनय का कथन किया जाता है । जो व्यवहारनय को ही पकड़ के रह जाता है

उसको उपदेश देना व्यर्थ है। जैसे जिसने सिंह नहीं देखा वह क्रूरता शूरता वाले व्यक्ति को ही सिंह समझ जाता है, उसी प्रकार जो निश्चय (वास्तविक) को नहीं जानता वह व्यवहार (अवास्तविक) को ही निश्चय समझ जाता है। जो व्यवहार और निश्चय इन दोनों को समझकर मध्यस्थ होता है, वही उपदेश का पूर्ण फल प्राप्त करता है।

मतलब यह कि व्यवहार चारित्र, वास्तव में चारित्र नहीं है—वह तो चारित्र के प्राप्त करने का एक जरिया है, जो कि अल्पबुद्धि वालों को समझाने के लिये कहा गया है। हाँ, यहाँ पर आचार्य यह भी कहते हैं कि मनुष्य को एकान्तवादी न बनना चाहिये। यही कारण है कि हमने अनेकान्त रूप से विवाह का विवेचन किया है। अर्थात् वास्तविकता की दृष्टि से (निश्चयनय से) विवाह धर्म नहीं है, क्योंकि वह प्रवृत्तिरूप है और उपचार से धर्म है। परन्तु यह उपचरित धार्मिकता सिर्फ कुमारी विवाह में ही नहीं है विधवाविवाह में भी है। क्योंकि दोनों में परस्त्री अर्थात् अविवाहित स्त्री से निवृत्ति पाई जाती है। पाठक देखेंगे कि हमारा विवेचन कितना शास्त्र-सम्मत और अनेकान्त से पूर्ण है, जबकि आक्षेपक बिल्कुल व्यवहारैकान्तवादी बनगया है। इसीलिये "प्रवृत्यात्मक कार्य धर्म नहीं है" निश्चयनय के इस कथन को यह सर्वथा (?) असंगत समझता है?

हमने विवाह को उपचरित धर्म सिद्ध करने के लिये कथंचिन्निवृत्यात्मक सिद्ध किया था। जिस प्रकार किसी मनुष्य को शेर कहने से वह शेर नहीं होजाता, किन्तु शेर के कुछ गुणों की कुछ समानता उसमें मानी जाती है, उसी प्रकार व्यवहार चारित्र, चारित्र न होने पर भी उनमें चारित्रकी कुछ समानता पायी जाती है। चारित्रमें तो शुभ और अशुभ दोनों

से निवृत्ति पायी जाती है और व्यवहार चारित्र में अशुभ से ही निवृत्ति पायी जाती है। व्यवहार चारित्र की चारित्र के साथ यही आंशिक समानता है। यही कारण है कि व्यवहार चारित्र भी चारित्र कहा गया। जब विवाह, व्यवहार धर्म है तो उसमें किसी न किसी रूपमें निवृत्यात्मकता होना चाहिये। इसीलिये हमने कहा है कि विवाह से परस्त्रीसेवन रूप अशुभ परिणति से निवृत्ति होती है। यह निवृत्ति कुमारीविवाह से भी होती है और विधवाविवाह से भी होती है।

"विवाह अगर निवृत्यात्मक है तो ब्रह्मचर्य प्रतिमा क्यों बनाई!"—आक्षेपकका यह कथन तो बड़ा विचित्र है। अरे भाई विवाह में जितनी निवृत्ति है उस से ज्यादः निवृत्ति ब्रह्मचर्य में है। पहली क्लासमें भी शिक्षा दी जाती और दूसरी में भी दी जाती है तो क्या यह कहा जासकता है कि पहिली क्लास में शिक्षा दी जाती है तो दूसरी क्यों बनाई? अगर कोई पूछे कि मुनि तो छठवें गुणस्थान में बन जाता है, फिर सातवाँ क्यों बनाया? पाँच पापों का त्याग तो अणुव्रतों में हो जाता है फिर महाव्रत क्यों बनाये? सामायिक और प्रोषधोपवास तो दूसरी प्रतिमा में धारण किये जाते है फिर इन नामों की तीसरी चौथी प्रतिमा क्यों बनाई? व्यभिचार और परिग्रह का त्याग तो ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाण व्रत में हो जाता है फिर सातवीं और दशमी प्रतिमा क्यों बनाई? तो इन सब प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जायगा?

उत्तर यही दिया जायगा कि पहिली अवस्थाओं में थोड़ा त्याग है और आगे की अवस्थाओं में ज्यादः त्याग है। यही उत्तर विवाह के विषय में है। विवाह में थोड़ा त्याग है—ब्रह्मचर्य में ज्यादः त्याग है।

देव पूजा आदि प्रवृत्यात्मक है परन्तु जब वे धर्म कहे

जाते हैं तब निवृत्यात्मक भी होते हैं। उन में कुदेवपूजा तथा अन्य अशुभ परिणतियों से निवृत्ति पायी जाती है। इसी से वे भी व्यवहार धर्म कहे गये हैं।

इस विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि विधवा-विवाह में कुमारीविवाह के बराबर निवृत्ति का अंश पाया जाता है। इसलिये दोनों एक ही तरह के व्यवहार धर्म हैं।

आक्षेप (ड)—यह लिखना महाझूठ है कि विवाह के सामान्य लक्षण में कन्या शब्द का उल्लेख नहीं है। 'कन्या का ही विवाह होता है' क्या इस दलील को झूठ बोलकर यों ही उडा देना चाहिये ?

समाधान—हमने कन्या शब्द को उडाया नहीं है, बल्कि इस शब्द के ऊपर तो हमने बहुत ज़ोरदार विचार किया है। राजवार्तिक तथा अन्य ग्रंथोंमें जो कन्या शब्दका प्रयोग किया गया है, उसके विषय में हम श्रीलालजी के आक्षेपों के उत्तर देते समय लिख चुके हैं। इसके लिये आक्षेप नम्बर 'घ' का समाधान पढ लेना चाहिये।

आक्षेप (ढ)—आप त्रिवर्णाचार को अप्रमाण मानकर के भी उसी के प्रमाण देते हैं, लेकिन जिस त्रिवर्णाचार में टट्टी पेशाब जाने की क्रिया पर भी कडी निगरानी रक्खी गई है, उसी में विधवाविवाह की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान—त्रिवर्णाचार को हम अप्रमाण मानते हैं, परन्तु विधवाविवाह के विरोधी तो प्रमाण मानते हैं, इसलिये उन्हें समझाने के लिये उसका उल्लेख किया है। किसी ईसाई को समझाने के लिये बाइबिल का उपयोग करना, मुसलमान को समझाने के लिये कुरान का उपयोग करना, हिन्दू का समझाने के लिये वेद का उपयोग करना जिस प्रकार उचित है, उसी प्रकार स्थितिपालकों को समझाने के लिये त्रिवर्णाचार का

उपयोग करना उचित है। 'टट्टी पेशाब की निगरानी रखने वाला विधवाविवाह का समर्थन नहीं कर सकता'—यह तो बिलकुल हास्यास्पद युक्ति है। आज भी दक्षिण प्रान्त में टट्टी पेशाब तथा अन्य क्रिया-कांड पर उत्तर प्रान्त की अपेक्षा कई गुणी निगरानी रक्खी जाती है। फिर भी वहाँ विधवाविवाह और तलाक़ का आम रिवाज है। खैर, त्रिवर्णाचारमें विधवा-विवाह का विधान है, यह बात २७ वें प्रश्न के उत्तर में सिद्ध की गई है। उसी प्रश्नके आक्षेप समाधानों में इस पर विचार किया जायगा।

आक्षेप (ण)—कन्या शब्द का अर्थ "विवाह योग्य स्त्री" क्यों किया जाय? पिता शब्द का अर्थ तो 'गुरुजन' होता है जैसा कि अमरकोष में लिखा है 'स्यान्निषेकादिकृद्गुरुः', परन्तु कुमारी के अतिरिक्त कन्या शब्द का प्रयोग न तो हमारे कहीं देखने में आया है न सुना ही है। धनञ्जय नाममाला में 'कन्या पतिर्वरः' लिखा है; 'स्त्री पतिर्वरः' क्यों नहीं?

समाधान—कन्या शब्द का 'विवाह योग्य स्त्री' अर्थ क्यों किया जाय, इस का समाधान आक्षेप 'ओ' के समाधान में देखिये। कन्या शब्द का कुमारी के अतिरिक्त अर्थ आप ने नहीं देखा सुना तो इस में हमारा क्या अपराध है? यह आप के ज्ञान की कमी है। आप के सहयोगी प० श्रीलाल जी ने तो यह अर्थ देखा है। उन के कथनानुसार ही आप विश्वलोचन, हैम और मेदिनी कोष देख डालिये। परन्तु इसके पहिले कोष देखने की कला सीख लीजिये, क्योंकि इसी प्रकरण में अमरकोष देखने में आप ने बड़ी ग़लती की है। अमरकोष में लिखा है कि 'पित्रादिर्गुरु' अर्थात् पिता, माता, भ्राता, मामा आदि गुरु है; परन्तु आप अर्थ करते हैं कि पिता माता, भ्राता आदि पिता है। आप को समझना चाहिये कि

पिता आदि को गुरु कह सकते हैं, परन्तु सब तरह के गुरुओं को पिता नहीं कह सकते। कन्या का विशेषण 'पितृदत्ता' है न कि 'गुरुदत्ता' जिससे कि अमरकोष के अनुसार आप विस्तृत अर्थ कर सकें। इसलिये यहाँ पितृशब्द उपलक्षण है। इसी प्रकार कन्या शब्द भी उपलक्षण है। नाममाला में 'स्त्री पति-र्वरः' न कहने का कारण यह है कि प्रत्येक स्त्री का पति वर नहीं कहलाता, किन्तु जो कन्या अर्थात् जो विवाह योग्य स्त्री (दुल्हिन) होती है उसी के पति को वर (दुल्हा) कहते हैं। 'स्त्री पतिर्वरः' कह देने से सभी सस्त्रीक पुरुष जीवन भर के लिये वर अर्थात् दूल्हा कहलाने लगते।

आक्षेप (त)—अमरकोष में 'पुनर्भू' शब्दका अर्थ किया है 'दुबारा विवाह करने वाली स्त्री' और कवि सम्राट् धनञ्जय ने पुनर्भू शब्द को व्यभिचारिणी स्त्रियों के नामों में डाला है। धनञ्जय, अकलङ्क और पूज्यपाद की कोटि के हैं, क्योंकि नाम-माला में लिखा है "प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणं। द्विसन्धान कवेः काव्यम् रत्नत्रयमपश्चिमम्" नाममाला के प्रमाण से सिद्ध है कि स्त्री का पुनर्विवाह व्यभिचार है।

समाधान—धनञ्जयजी कवि थे, परन्तु उनका कोष संस्कृत साहित्य के सब कोषों से छोटा और नीचे के दर्जे का है। ऊपर जो इन की प्रशसा में श्लोक उद्धृत किया गया है वह खुद ही इन्हीं का बनाया है। इस तरह अपने मुँह से प्रशंसा करने से ही कोई बड़ा नहीं हो जाता। धनञ्जय को पूज्यपाद या अकलङ्क की कोटि का कहना उन दोनों आचार्यों का अपमान करना है। धनञ्जय यदि सर्वश्रेष्ठ कवि भी होते तो भी क्या अकलङ्कादि के समान मान्य हो सकते थे? गाँधी जी सब से बड़े नेता हैं, गामा सब से बड़ा पहलवान है और गौहर सर्व श्रेष्ठ गायिका है तो क्या गाँधीजी गामा और गौहर की इज़्ज़त

बराबर हो गई ? मान्यता के लिये सिर्फ सर्वश्रेष्ठता नहीं देखी जाती, परन्तु यह भी देखा जाता है कि वह श्रेष्ठता किस विषय में है। धनञ्जय एक अच्छे पण्डित या कवि थे तो क्या वे पूज्यपाद और अकलङ्क के समान आचार्य और तत्वज्ञ भी थे, जिस से सिद्धान्त के विषय में उन का निर्णय माना जाय ?

खैर ! अब हम मूल विषय पर आते हैं। अमरकोषकारने पुनर्भू शब्द का अर्थ किया है "दुबारा विवाह कराने वाली स्त्री"। पुनर्भू का दूसरा नाम दिधिषू भी है। जिस ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य की स्त्री, पुनर्भू होती है उसे अग्नेदिधिषु कहते हैं (इस से यह भी सिद्ध होता है कि पहिले ज़माने में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य में भी स्त्री पुनर्विवाह होता था)। अमरकोषकार ने पुनर्भू का 'दुबारा विवाह करने वाली स्त्री' अर्थ तो किया, परन्तु उसे व्यभिचारिणी नहीं माना। व्यभिचारिणी के उन्होंने पुंश्चली, धर्षिणी, बन्धकी, असती, कुलटा, इत्वरी आदि नाम तो बताये परन्तु पुनर्भू नाम नहीं बताया। जो कोषकार पुनर्भू शब्द का उपर्युक्त अर्थ करता है वह तो व्यभिचारिणी उसे लिखता नहीं, किन्तु जिसने (धनञ्जय ने) पुनर्भू शब्द का अर्थ ही नहीं बताया वह उसे व्यभिचारिणी कहता है ! इससे मालूम होता है कि अमरकोषकार के अर्थ से धनञ्जय का अर्थ बिलकुल जुदा है। अमरकोषकार के मतसे पुनर्भू शब्द का अर्थ है 'दुबारा विवाह करने वाली स्त्री' और धनञ्जय के मत से पुनर्भू शब्द का अर्थ है व्यभिचारिणी। ये तो एक शब्द के दो जुदे जुदे अर्थ हुए। इससे दुबारा विवाह करने वाली स्त्री व्यभिचारिणी कैसे सिद्ध हुई ? गो शब्द का अर्थ गाय भी है, स्वर्ग भी है, पृथ्वी भी है, इत्यादि और भी अनेक अर्थ हैं। अब कोई कहे कि अमुक आदमी मर कर स्वर्ग गया, तो क्या इस का यह अर्थ होगा कि वह गाय में गया ?

क्योंकि स्वर्ग को गो कहते हैं और गो का अर्थ गाय है। जिस प्रकार गो शब्द के 'गाय' और 'स्वर्ग' ये दोनों अर्थ होने पर भी 'गाय' को स्वर्ग नहीं कह सकते उसी प्रकार पुनर्भू शब्द के 'दुबारा विवाह कराने वाली' और 'व्यभिचारिणी' ये दोनों अर्थ होने पर भी दुबारा विवाह करने वाली को व्यभिचारिणी नहीं कह सकते। दो ग्रन्थकारों की दृष्टि में पुनर्भू शब्द के ये जुदे जुदे अर्थ हैं। इन जुदे जुदे अर्थों को पर्यायवाची समझ जाना अक्ल की खूबी है। हाँ, अगर अमरकोष में लिखा हुआ पुनर्भू शब्द का अर्थ नाममाला में होता और फिर वहाँ उसे व्यभिचारिणी का पर्यायवाची बतलाया होता तो धनञ्जय के मत से पुनर्विवाह व्यभिचार सिद्ध होता। अथवा अमरकोश-कार ने ही अगर पुनर्भू शब्द को व्यभिचारिणी शब्द का पर्याय-वाची लिखा होता तो भी पुनर्विवाह को व्यभिचार कहने की गुंजाइश होती। परन्तु न तो अमरकोशकार पुनर्भू को व्य-भिचारिणी लिखते हैं, न नाममालाकार अमरकोश सरीखा पुनर्भू का अर्थ ही करते हैं। इसलिये पुनर्भू शब्द के विषय में दोनों लेखकों के जुदे जुदे अर्थ ही समझना चाहियें।

दूसरी बात यह है कि 'पुनर्भू' तीन तरह की होती हैं— १ अक्षतयोनि, २. क्षतयोनि, ३. व्यभिचारिणी (देखो मिताक्षरा शब्द कल्पद्रुम, या हिन्दी शब्दसागर)। हो सकता है कि धनञ्जय कवि ने तीसरे भेद को ध्यान में रख कर पुनर्भू को व्यभिचारिणी का पर्यायवाची लिखा हो। इस प्रकार छोटी छोटी ग़लतियाँ नाममाला में बहुत पाई जाती हैं। जैसे—धानु-ष्कका अर्थ है धनुष चलाने वाला, परन्तु नाममालामें धानुष्क को भील का पर्यायवाची शब्द लिखा है। लेकिन न तो सभी भील, धानुष्क हो सकते हैं और न सभी धनुष चलाने वाले भील हो सकते हैं। अगर नाममालाकार के अर्थ के अनुसार

प्रयोग किया जाय तो धनुष चलाने वाले तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि सभी राजा महाराजा भील कहलायेंगे। इसी प्रकार नौकर के पर्यायवाची शब्दों में शस्त्र-जीवी लिखा है। लेकिन सभी नौकर शस्त्रजीवी नहीं होते। शस्त्रजीवी तो सिर्फ सिपाहियों और सैनिकोंको कह सकते हैं परन्तु सैनिक और नौकर का एक ही अर्थ करना नाममाला की ही विचित्रता है। दूसरे कोषों में न तो पुनर्भू का पर्याय शब्द व्यभिचारिणी लिखा है, न धानुष्क का पर्याय शब्द भील लिखा है और न सैनिक का पर्याय शब्द सेवक लिखा है। इस प्रकार की छोटी मोटी भूल के नाममालामें दर्जनों उदाहरण मिल सकते हैं। जो नाममाला की इन त्रुटियों पर ध्यान न देना चाहते हों वे उपर्युक्त छेदक (पैराग्राफ) के कथनानुसार पुनर्भू शब्द के अर्थ करने में अमरकोशकार और नाममालाकार का मतभेद समझें। इसलिये पुनर्विवाहिता को व्यभिचारिणी नहीं कहा जा सकता।

इस के बाद आक्षेपक ने साहसगति विद्याधर तथा 'धर्म संग्रह श्रावकाचार' के कन्या शब्द पर अज्ञानतापूर्ण विवेचन किया है, जिस का विस्तृत उत्तर आक्षेप 'अं' 'अः' और "क" में दिया जाचुका है। इसी तरह दीक्षान्वय क्रिया के पुनर्विवाह का विवेचन आक्षेप नं० 'ख' में किया गया है। आक्षेपक ने बकवाद तो बहुत किया, परन्तु वह इतनी सी बात नहीं समझ पाया कि दीक्षान्वय क्रिया के पुनर्विवाह का उल्लेख क्यों किया गया था। दीक्षान्वय क्रियाके पुनर्विवाह से हम विधवा-विवाह सिद्ध नहीं करना चाहते, किन्तु यह बतलाना चाहते हैं कि विवाहिता स्त्री भी, अगर उसका फिर विवाह हो तो (भले ही अपने पति के ही साथ हो) कन्या कहलाती है। अगर कन्या शब्द का अर्थ कुमारी ही किया जायगा तो दीक्षान्वय क्रियामें

दीक्षिता स्त्रीका अपने पतिके साथ पुनर्विवाह कैसे हो सकेगा, क्योंकि आक्षेपक कन्या का ही विवाह मानता है।

आक्षेप (थ)—जैनाचार्यों की सम्पूर्ण कथनी नय विवक्षा पर है। उन्होंने (?) विश्वलोचन में "कन्या कुमारिका नार्यः" लिखा है। यद्यपि यह बिलकुल सीधा सादा है और इसमें नय प्रमाणके वारों की कुछ आवश्यकता नहीं है फिर भी नीतिकार ने कहा है—'अर्थी दोषं न पश्यति'। जो हो! जाति अपेक्षा (राशि भेदौषधीभिदा) नारि (?) के साथ कन्या, कुमारी का प्रयोग किया गया है। हमारे अर्थ को सिद्ध करने वाला अंश 'जगत्' में बड़े (?) बारीक टाइप में छापा गया है। इतना छल! कुछ खौफ है?

समाधान—कोष के स्त्री वाची कन्या शब्द का जब कुछ भी खण्डन न हो सका तो उपर्युक्त प्रलाप किया गया है। आक्षेपक का कहना है कि कन्या और स्त्री की जाति एक है, इसलिये दोनों को साथ लिख दिया है। ठीक है, मगर भार्या और भगिनी भी तो सजातीय हैं, बाप और बेटा भी तो सजातीय हैं, तो इन सबके विषय में घुटाला कर देना चाहिये। इस बकवाद से आक्षेपक ने अपने कोष देखने की कला के अज्ञान का पुनः प्रदर्शन किया है। विश्वलोचन, एक अनेकार्थ कोश है। अन्य कोशों के समान उसमें पर्यायवाची शब्दों की लाइन खड़ी नहीं की जाती है। उसमें तो यह बताया जाता है कि एक शब्द के जुदे जुदे कितने अर्थ हैं। कन्या शब्दके कुमारी, नारी, राशिभेद आदि जुदे जुदे अर्थ हैं। अगर आक्षेपक को कोश देखने का ज़रा भी ज्ञान होता तो वह इतनी भूल न करता। टाइप की बात तो बड़ी विचित्र है। लेखक, जिस बात पर पाठकों का ध्यान ज़्यादः आकर्षित करना चाहता है उसे वह अन्डर लाइन कर देता है और प्रेस वाले उसे ब्लाक

[मोटे] टाइप में छापते हैं। इस बात में आक्षेपक को छल धोका आदि अनेक भूत नजर आ रहे हैं। यह पागलपन नहीं तो क्या है? बेचारा आक्षेपक ऐसे ऐसे जबरदस्त (?) तर्क (!) शब्दों से विधवाविवाह का खण्डन करने चला है।

कन्या शब्द के विषय में इतना लिखा जा चुका है कि अब और लिखने की जरूरत नहीं है। सागारधर्मामृत के निर्दोषा विशेषण पर जो आक्षेपक ने लिखा है उसका समाधान "ग" में किया गया है।

आक्षेप (ट)—शायद सव्यसाची को करणानुयोग का लक्षण भी नहीं मालूम है। कहीं करणानुयोग में गृहस्थ-चारित्र की आज्ञायें भी देखने में आई हैं। करणानुयोग में तो लोका-लोक विभाग आदि का वर्णन रहता है। करणानुयोग और आज्ञा का क्या सम्बन्ध?

समाधान—इस आक्षेप से मालूम होता है कि आक्षेपक का शास्त्रज्ञान अधूरा और तुच्छ है। पाठशालाओं के छोटे २ बच्चे जितना ज्ञान रखते हैं उतना ज्ञान बेचारे आक्षेपकको मिला है और उसी के बल पर वह अपने को सर्वज्ञ समझता है! आक्षेपक को हम सलाह देते हैं कि वह मोक्षमार्गप्रकाश के आठवें अधिकार में 'करणानुयोग का प्रयोजन" और "करणा-नुयोग के व्याख्यान की पद्धति' नामक विवेचनों का स्वाध्याय कर जाय। वहाँ के कुछ उद्धरण हम यहाँ नीचे देते हैं:—

"बहुरि करणानुयोग विषै जीवनि की वा कर्मनि की विशेषता वा त्रिलोकादि की रचना निरूपण करि जीवन को धर्मविषै लगाये हैं। जे जीव धर्मविषै उपयोग लगाया चाहैं, ते जीवनि का गुणस्थान मार्गणा आदि विशेष अर कर्मनि का कारण अवस्था फल कौन कौन के कैसे कैसे पाइये, इत्यादि

विशेष अर त्रिलोक विषैं नरक स्वर्गादिक ठिकाने पहिचानि पाप नें विमुख होय धर्म विषै लागे हैं ।

"बहुरि करणानुयोग विषै छद्मस्थनि की प्रवृत्ति के अनुसार (आचारण) वर्णन नाहीं। केवलज्ञान गम्य (आत्म परिणाम) पदार्थनिका निरूपण है। जैसे—कोई जीव नो द्रव्यादिक का विचार करैं हैं वा व्रतादिक पालैं हैं, परन्तु अंतरंग सम्यक् चारित्र नहीं तातैं उनको मिथ्यादृष्टि† अव्रती कहिये हैं। बहुरि कैई जीव द्रव्यादिक का वा व्रतादिक का विचार-रहित है अन्य कार्यनि विषै प्रवर्तें है वा निद्रादि करि निर्विचार होय रहे हैं, परन्तु उनके सम्यक्तादि शक्ति का सद्भाव है तातें उन को सम्यक्ती वा व्रती कहिये हैं। बहुरि कोई जीव के कषायनि की प्रवृत्ति तो घनी है अर वाकै अन्तरङ्ग कषाय-शक्ति थोरी है तो वाकौं मन्दकषाई कहिये हैं। अर कोई जीव के कषायनि की प्रवृत्ति तो थोरी है अर वाकै अन्तरङ्ग कषाय-शक्ति घनी है तो वाकौ तीव्र कषायी† कहिये है"।

"बहुरि कहीं जाकी व्यक्ति तो किछू न भासै तो भी सूक्ष्म शक्ति के सद्भावतैं ताका तहाँ अस्तित्व कह्या । जैसे मुनि के अब्रह्म कार्य किछू नाहीं तो भी नवम गुणस्थान पर्यन्त मैथुन संज्ञा कही"।

"बहुरि करणानुयोग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादिक धर्म का निरूपण कर्म प्रकृतीनिका उपशमादिक की अपेक्षा लिये सूक्ष्म शक्ति जैसे पाइये तैसे गुणस्थानादि विषै निरूपण करै है"।

इन उद्धरणों से पाठक समझ जायेंगे कि करणानुयोग में चारित्रादिक का भी निरूपण रहता है। हाँ, करणानुयोगका

---

† जैसे दक्षिण के शान्तिसागरजी। —सम्पादक

विवेचन भावों के अनुसार है और चरणानुयोग का विवेचन बाह्यक्रिया के अनुसार। चरणानुयोग का मुनि व श्रावक करणानुयोग का मिथ्यादृष्टि हो सकता है। भावों के सुधार के लिये क्रिया है अर्थात् करणानुयोग के धर्म के लिये चरणानुयोग का धर्म है। विवाह से पुरुषकी कामलालसा अन्य स्त्रियों से हट कर एक ही स्त्री में केन्द्रीभूत होजाती है। इस प्रकार इच्छा का केन्द्रीभूत होना कुमारी-विवाह से भी है और विधवा-विवाह से भी है, इसलिये करणानुयोग की अपेक्षा कुमारी-विवाह और विधवाविवाह में कुछ फर्क नहीं है। इसलिये कुमारी विवाह और विधवाविवाहके लिये जुदी जुदी आज्ञाएं नहीं बनाई जासकती न बनाई गई है। अगर आक्षेपक करणानुयोग के स्वरूप को समझने की चेष्टा करेगा तो उसे अच्छी तरह यह बात समझ में आजायगी।

आक्षेप (घ)—विधवा के लिये आचार-शास्त्र में स्पष्ट वैधव्य दीक्षा का विधान है।

समाधान—इस आक्षेप का उत्तर नम्बर 'ग' में दिया गया है।

इसके बाद आक्षेपक ने सम्यक्त्व बन्ध का कारण है या नहीं इस विषय पर अनावश्यक विवेचन किया है, जिसका विधवाविवाहसे कोई ताल्लुक नहीं है। हाँ, यह बात हम पहिले विस्तार से कह चुके हैं कि सम्यक्त्वी विधवा विवाह कर सकता है।

दूसरा प्रश्न

दूसरे प्रश्न के उत्तर में कोई ऐसी बात नहीं है जिसका उत्तर पहिले प्रश्न के उत्तर में न आगया हो। इसलिये यहाँ पर विशेष न लिखा जायगा। पुनर्विवाह करने वाला सम्यक्त्वी

होने पर स्वर्ग जा सकता है या नहीं—इस पर श्रीलालजी तो कहते हैं कि वह सीधा नरक निगोदका पात्र है, जबकि विद्यानन्द लिखते हैं कि उदासीन वृत्ति रखने पर स्वर्ग जा सकता है। इस तरह दोनों आक्षेपक एक दूसरे को काटते हैं। दोनों आक्षेपकोंके आक्षेपों पर निम्न में विचार किया जाता है :—

आक्षेप (क)—पुनर्विवाह करने वाला मोक्ष तो तब जाय, जब वह रॉड पीछा छोड़े। साथ ही मुनिव्रत के नहीं होते। विधवाविवाह से संतान होगी वह रॉड का मॉड फिर किसी का लॅडरा बनेगा। (श्रीलाल)। विधवाविवाह की सतान मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। (विद्यानन्द)

समाधान— रॉड, सॉड, लॅडरा आदि शब्दों का उत्तर देना वृथा है। विधवाविवाह की सन्तान मोक्ष जा सकती है। जब व्यभिचारजात सुदृष्टि मोक्ष जा सकता है, तब और की बात ही क्या है? विधवाविवाह करने के बाद मुनिव्रत धारण कर सकता है और मोक्ष भी जा सकता है। इसमें तो विवाद ही नहीं है।

आक्षेप (ख)—पुनर्विवाह करने वाले असच्छूद्र हैं। (विद्यानन्द)

समाधान—पहिले प्रश्न के उत्तर में इसका समाधान कर चुके हैं। देखो नं०—(ङ)

आक्षेप (ग)—सागारधर्मामृत में लिखा है कि स्व-दार-सतोषी पर-स्त्री का कभी ग्रहण नहीं करता। विधवा का परस्त्रीत्व किस प्रमाण से हटेगा। (विद्यानन्द)

समाधान—इस का समाधान उसी सागारधर्मामृत में है। वहाँ लिखा है कि स्वदार-सतोषी परस्त्री-गमन और वेश्या-गमन नहीं करता। यहाँ पर ग्रन्थकार ने कन्या (कुमारी) को भी परस्त्री में शामिल किया है (कन्यातु भाविस्वकत्वा-

रिपत्रादि परनन्त्रत्वाद्वाम्मनायेन्यन्यस्त्री नो न विशिष्यते) । जब कन्या भी परस्त्री है और विवाह द्वारा उस का परस्त्रीत्व दूर कर दिया जाता है तब कन्या के समान विधवा का भी परस्त्रीत्व दूर कर दिया जावेगा । अथवा जैसे विधुर का परपुरुषत्व दूर होता है इसी प्रकार विधवा का परस्त्रीत्व दूर हो जायगा ।

ग़ैर, जब सागारधर्मामृत की बात चल पड़ी है तब हम भी कुछ लिख देना चाहते हैं । विधवाविवाहविरोधी, अपने अज्ञान तिमिर को हटा कर ज़रा देखें ।

सागारधर्मामृत में वेश्यासेवी को भी ब्रह्मचर्याणुव्रती माना है, क्योंकि ग्रन्थकार के मत से वेश्या, परस्त्री नहीं है । उनका कहना है कि "यस्तु स्वदारवत्साधारण स्त्रियोऽपि व्रतयितुमशक्तः परदारानेव वर्जयति सोऽपि ब्रह्माणुव्रतीष्यते" अर्थात् जो स्वस्त्री के समान वेश्या को भी छोड़ने में असमर्थ है सिर्फ परस्त्री का ही त्याग करता है वह भी ब्रह्मचर्याणुव्रती है । इसका मतलब यह है कि वेश्या, परस्त्री नहीं है, क्योंकि उस का कोई स्वामी मौजूद नहीं है । यदि ऐसी वेश्या का सेवन करने वाला अणुव्रती हो सकता है तो विधवासे विवाह करने वाला क्या अणुव्रती नहीं हो सकता ? वेश्या, परस्त्री नहीं है, किन्तु वह पूर्णरूप से स्वस्त्री भी तो नहीं है । परन्तु जिस विधवा के साथ विवाह कर लिया जाता है, वह तो पूर्णरूप से स्वस्त्री है । क़ानून में वेश्या स्वस्त्री नहीं कहलाती, जबकि पुनर्विवाहिता स्वस्त्री कहलाती है । इतने पर भी अगर वेश्यासेवी द्वितीय श्रेणी का अणुव्रती कहला सकता है तो विधवाविवाह करने वाला प्रथम श्रेणी का अणुव्रती कहला सकता है ।

सागारधर्मामृत में जहाँ इत्वरिकागमन को ब्रह्मचर्याणुव्रत

का अतिचार सिद्ध किया है वहाँ लिखा है कि "त्वास्य भार्यादिना परेण किञ्चित्काल परिगृहीतां वेश्यां गच्छतो भगः कथंचित्परदारत्वात्तस्याः । लोके तु परदारत्वाभावेन भंगः इति भगाभग रूपोतिचारः" । इस वाक्य पर विचार कीजिये ।

जहाँ भग ही भंग है वहाँ अनाचार माना जाता है । जहाँ अभग ही है वहाँ व्रत माना जाता है । जहाँ भग और अभग दोनों है वहाँ अतिचार माना जाता है । ऊपर के वाक्य में वेश्या-सेवन को भंग और अभङ्गरूप मान कर अतिचार सिद्ध किया गया है । यहाँ देखना इतना ही है कि भङ्ग अंश क्या है और अभङ्ग अंश क्या है ? और उनमें से कौनसा अंश विधवाविवाह में पाया जाता है ? ग्रन्थकार कहते है कि वेश्या-सेवन में व्रत का भङ्ग इसलिये होता है कि वह दूसरों के द्वारा ग्रहण की जाती है । मतलब यह कि वेश्या के पास बहुत से पुरुष जाते है और सभी पैसा दे देकर उसे अपनी अपनी स्त्री बनाते है । इसलिये वह परपरिगृहीता हुई और उसके सेवन से व्रत का भङ्ग हुआ । लेकिन लोक में वह परस्त्री नहीं मानी जाती (क्योंकि पैसा लेने पर भी पूर्णरूप से वह किसी की स्त्री नहीं बनती) । इसलिये उस के सेवन में व्रत का अभङ्ग (रक्षा) हुआ । पाठक देखें कि विधवाविवाह में व्रत का अभङ्ग (रक्षा) ही है, भङ्ग बिलकुल नहीं है । लोक-व्यवहार से, क़ानून की दृष्टि से, तथा परस्त्री सेवन में जो सक्लेश होता है वह सक्लेश न होने से पुनर्विवाहिता स्वस्त्री ही है, इसलिये इस सेवन में वेश्यासेवन की अपेक्षा कई गुणी व्रत-रक्षा (अभङ्गांश) है । साथ ही वेश्या में तो परपरिगृहीतता है किन्तु इस में नाममात्र को भी परपरिगृहीतता नहीं है । जब कोई मनुष्य वेश्या के पास जाता है तब वह उस का पूर्ण अधिकारी नहीं बन सकता, क्योंकि उतना

अधिकार दूसरे पुरुषों को भी प्राप्त है। लेकिन पुनर्विवाहिता के ऊपर दूसरे का बिलकुल अधिकार नहीं रहता। इसलिये वेश्यासेवन में तो अभङ्ग के साथ में भङ्ग है, लेकिन पुनर्विवाहिता में अभङ्ग ही अभङ्ग है। इसलिये वेश्या सेवन अतिचार है और पुनर्विवाह व्रत है। अनाचार दोनों ही नहीं है। सागारधर्मामृत का यह कथन विधवाविवाह का पूर्ण समर्थन करता है।

हम पाठकों से दृढ़ता के साथ कहते हैं कि अकेले सागारधर्मामृत में ही क्या, किसी भी जैनग्रन्थ में—जो कि भगवान महावीर के परम पवित्र और उच्च सिद्धान्तों के अनुसार बना हो—विधवाविवाह का समर्थन ही मिलेगा। किन्तु उसे समझने के लिये विवेक और निःपक्षता की जरूरत है।

आक्षेप (घ)—चन्द्राभा अपने निंद्य कृत्य की जीवन भर निन्दा करती रही (विद्यानन्द)। जब उस दुष्ट का साथ छूट गया तब श्रेष्ठमार्ग धारण करने से स्वर्ग गई। वह स्वेच्छा से व्यभिचार न करती थी, किन्तु उस पर मधु बलात्कार करता था। (श्रीलाल)

समाधान—मधु ने चन्द्राभा के साथ बलात्कार किया था या दोनों ही इससे प्रसन्न थे, यह बात प्रद्युम्नचरित के निम्नलिखित श्लोकों से मालूम हो जाती है :—

चाटुभिःसपरिहासवचोभिस्तां तथा समनुनीय स रेमे।
जानमस्य च यथा चरितार्थं यौवनं च मदनो विभवश्च ॥७।६९॥
लोचनान्तक निरीक्षणमन्तःकूजितं च हसितं च नटस्याः।
चुम्बितं च विहृतश्च रतञ्च व्याजहार सुरतोत्सवरागम् ॥७।७०॥
गीतनृत्यपरिहास्यकथाभिर्दीर्घिकाजलवनान्त विहारैः।
तत्रतौ रतिसुखार्णव मग्नौ जग्मतुर्न समयं समतीतम् ॥७।१७॥

मधु ने चन्द्राभा को मीठी मीठी और हंसीली बातों

से खुश करके रमण किया जिससे उसका यौवन मदन और विभव सफल हो गया। चन्द्राभा का देखना, किलोलें करना, हंसना, चूमा लेना, काम क्रीडा करना आदि से उनका सुरतोत्सव रंग जमने लगा। गाना, नाचना, हँसी दिल्लगी करना, वापिका के जल में और वनों में विहार करना आदि से वे सुख के समुद्र में मग्न हो गये। उन्हें जाता हुआ समय मालूम भी न पड़ा।

पाठक देखें कि क्या यह बलात्कार था? ख़ैर, मधु की बात आई है तो एक बात और सुनिये। मधु था तो परस्त्री सेवक और उसका यह पाप विख्यात भी हो गया था। फिर भी उसके यहाँ एक दिन विमलवाहन मुनिराज आहार लेने के लिये आये—स्मरण रहे कि इस समयभी मधु चन्द्राभा के साथ रहता था—तो उसने मुनि को दान दिया।

प्रासुकं नृपतिना विधिपूर्वं सयताय वरदानमदायि।
तेन चान्तफलतः सहसैव चित्रपञ्चक मवापि दुरापम् ॥७॥६५॥

राजा मधु ने मुनिराज के लिये आहार दान दिया, जिससे तुरन्त ही पंच-आश्चर्य हुए। पाठक देखें कि एक परस्त्रीसेवी, मुनि को आहार देता है जिसको आचार्य महाराज वरदान (उत्कृष्टदान) कहते हैं और उससे तुरन्त पंच आश्चर्य भी होते है। इससे न तो मुनि को पाप लगता है न मधु को। पञ्च आश्चर्य इसका प्रमाण है। इतना ही नहीं, बल्कि उस परस्त्रीसेवी का अन्न खाने के बाद ही विमलवाहन मुनिको केवल ज्ञान पैदा हुआ। अगर आजकलके ढोंगी मुनियोंके साथ ऐसी घटना हो जावे तो वे दुरभिमान के पुतले शुद्धि के नाम पर अंतड़ियाँ तक निकाल निकाल कर धोने की चेष्टा करेंगे और बेचारे दाताको तो नरक निगोद के सिवाय दूसरी जगह भेजेंगे ही नहीं। ख़ैर, अब आगे देखिये। राजा मधु और चन्द्राभा

दोनों मरकर सोलहवें स्वर्ग में देव हुए (इस घटना से नरक के ठेकेदार पंडितोंको बड़ा कष्ट होना होगा।) । इस पर आक्षेपक का कहना है कि 'वह स्वर्ग गई सो श्रेष्ठ-मार्ग के अवलंबन से गई', परन्तु इससे इतना तो मालूम होगया कि परस्त्रीसेवी को श्रेष्ठमार्ग अवलम्बन करने का अधिकार है—व्यभिचारिणी स्त्री भी आर्यिका के व्रत ले सकती है। उसका यह कार्य धर्म-विरुद्ध नहीं है । अन्यथा उसे अच्युत-स्वर्ग में देवत्व कैसे प्राप्त होता ?

हमारा यह कहना नहीं है कि विवाह करने से ही कोई स्वर्ग जाता है । स्वर्ग के लिये तो तदनुरूप श्रेष्ठ मार्ग धारण करना पड़ेगा । हमारा कहना तो यही है कि विधवाविवाह कर लेने से श्रेष्ठ मार्ग धारण करने का अधिकार या योग्यता नहीं छिन जाती। आक्षेपकों का कहना तो यह है कि पुनर्विवाह वाला सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, परन्तु मधु के दृष्टान्त से तो यह सिद्ध होगया कि पुनर्विवाह वाला तो क्या, परस्त्रीसेवी भी सम्यक्त्वी ही नहीं, मुनि तक बन सकता है।

प्रश्न तीसरा

"विधवाविवाह से तिर्यञ्च और नरकगतिका बंध होता है या नहीं"—इस तीसरे प्रश्न के उत्तर में हमने जो कुछ कहा था उस पर आक्षेपकों ने कोई ऐसी बात नहीं कही है, जिसका उत्तर दिया जाय ? आक्षेपकों ने बार बार यही दुहाई दी है कि विधवाविवाह धर्म-विरुद्ध है, व्यभिचार है, इसलिये उस से विसंवाद कुटिलता है, उससे नरक तिर्यञ्चगति का बन्ध है । लेकिन इस कथनमें अन्योन्याश्रय दोष है। क्योंकि जब विधवा-विवाह धर्मविरुद्ध सिद्ध हो तब उससे विसंवादादि सिद्ध हो।

जब विसंवादादि सिद्ध हों, तब वह धर्मविरुद्ध सिद्ध हो। फिर नाममात्र के आक्षेपों का उत्तर देना भी हम उचित समझते हैं।

आक्षेप (क)—राजुल आदि की तपश्चर्याओं के दृष्टान्त शास्त्रों में पाये जाते हैं। अगर उन्हें कोई विवाह का उपदेश देता तो उनकी उन्नति में सन्देह था। (विद्यानन्द)

समाधान—राजुल आदि के समान बाल ब्रह्मचारिणी ब्राह्मीदेवी, सुन्दरी देवी, नीलीबाई आदि के दृष्टान्त भी तो शास्त्रों में पाये जाते हैं। इसलिये क्या यह नहीं कहा जासकता कि अगर कुमारीविवाह का उपदेश होता तो ब्राह्मी आदि की तरक्की कैसे होती? अगर कुमारीविवाह के उपदेश रहने पर भी बालब्रह्मचारिणी मिल सकती हैं तो पुनर्विवाह का उपदेश रहने पर भी वैधव्य-दीक्षा लेने वाली और आर्यिका बन कर घोर तपश्चर्या करने वाली क्यों न मिलेंगी?

आक्षेपक को राजुलदेवी की कथा का पूरा पता ही नहीं है। जैनियों का बच्चा बच्चा जानता है कि नेमिनाथ के दीक्षा लेने पर राजुल के माता, पिता, सखियाँ तथा अन्य कुटुम्बियों ने उन्हें किसी दूसरे राजकुमार के साथ विवाह कर लेने को खूब ही समझाया था। फिर भी उनने विवाह न किया। आक्षेपक को समझना चाहिये कि राजुल सरीखी दृढ़मनस्विनी देवियाँ किसी के उपदेश अनुपदेश की पर्वाह नही करतीं। अगर उन्हें विवाह करना होता तो सब लोग रोकते रहते, फिर भी वे विवाह कर लेतीं। और उन्हें विवाह नहीं करना था तो सब लोग आग्रह करते रहे फिर भी उनने किसी के कहने की पर्वाह नहीं की।

आक्षेप (ख)—पंडित लोग श्रेष्ठमार्ग का उपदेश देते हैं, इसलिये विसंवादी नहीं हैं। जबरन व्यभिचार की शिक्षा देने वाले कुछ अपटुडेट लीडर्स विसंवादी हैं। (विद्यानन्द)

समाधान—श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश देना बुरा नहीं है, परन्तु जो उस श्रेष्ठमार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकते उनको उससे उतरती श्रेणी के मार्ग में भी न चलने देना मतके नाम पर मतवाला हो जाना है। क्या विधवाविवाह का उपदेश ब्रह्मचर्यका घातक है ? यदि हाँ, तो गृहस्थधर्म का विधान भी मुनिधर्म का घातक कहलायगा। पहिली आदि प्रतिमाओंका विधान भी दूसरी आदि प्रतिमाओं का घातक कहलायगा। यदि गृहस्थधर्म आदि का उपदेश देने वाले, वञ्चक, नास्तिक, पाखंडी, पापोपदेष्टा, पाप पंथ में फँसाने वाले आदि नहीं हैं तो विधवाविवाह के प्रचारक भी वञ्चक आदि नहीं हैं। क्योंकि जिस प्रकार पूर्ण संयम के अभाव में अविरति से हटाने के लिये गृहस्थधर्म (विरताविरत) का उपदेश है उसी प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य केअभाव में, व्यभिचार से दूर रखने के लिये विधवा-विवाह का उपदेश है। जब विधवा-विवाह आगमविरुद्ध ही नहींहै तब उसमें विसंवाद कैसा ? और उसका उपदेश भी व्यभिचार की शिक्षा क्यों ? विधवाविवाह के उपदेशक ज़बरदस्ती आदि कभी नहीं करते न वे बहिष्कार आदि की धमकियाँ देते हैं। ये सब पाप तो विधवाविवाह-विरोधी पण्डितों के ही सिर पर सवार हैं।

आक्षेप (ग)—विधवाविवाह में वेश्या-सेवन की तरह आरम्भ भले ही कम हो, परन्तु परिग्रह—ममत्वपरिणाम—कुमारी विवाह से असंख्यात गुणा है। (श्रीलाल)

समाधान—यदि विधवाविवाहमें असंख्यात गुणा ममत्व है तो विधुरविवाह में भी असंख्यातगुणा ममत्व मानना पड़ेगा। क्योंकि जिस प्रकार विधवा पर यह दोषारोपण किया जाता है कि उसे एक पुरुष से सन्तोष नहीं हुआ, उसी प्रकार विधुर को भी एक स्त्री से सन्तोष नहीं हुआ; इसीलिये वह

भी द्रोपी कहलाया । वास्तविक बात तो यह है कि न विधुर विवाह में ज्यादः ममत्व परिणाम हैं और न विधवाविवाह में। हाँ, अगर कोई स्त्री एक ही समय में दो पति रक्खे अथवा कोई पुरुष एक ही समय में दो स्त्रियाँ रक्खे तो ममत्व परिणाम (राग परिणति) ज्यादः कहलायगा। अगर किसी ने यह प्रतिज्ञा ली कि मैं २००) रुपये से ज्यादः न रक्खूँगा और अब यदि वह २०१) रक्खे तो उस की रागपरिणति में वृद्धि मानी जायगी। लेकिन अगर वह २००) में से एक रुपया ख़र्च करदे फिर दूसरा एक रुपया पैदा करके २००) करले तो यह नहीं कहा जायगा कि तू दूसरा नया रुपया लाया है, इसलिये तेरी प्रतिज्ञा भङ्ग हो गई और ममत्व परिणाम बढ़ गया। किसी ने एक घोड़ा रखने की प्रतिज्ञा ली, दुर्भाग्य से वह मर गया; इसलिये उसने दूसरा घोड़ा ख़रीदा। यहाँ पर भी वह प्रतिज्ञा-च्युत या अधिक रागी (परिग्रही) नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार एक पति के मर जाने पर दूसरा विवाह करना, या एक पत्नी के मरजाने पर दूसरा विवाह करना अधिक राग (परिग्रह) नहीं कहा जा सकता। हाँ, पति के या पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह करना, अवश्य ही अधिक रागी होना है। परन्तु पण्डितों के अँधेर नगरी के न्यायानुसार, पुरुष तो एक साथ हजारों स्त्रियों के रखने पर भी अधिक परिग्रही नहीं है और स्त्री, एक पति के मर जाने पर दूसरा विवाह करने से ही, असंख्यात गुणी परिग्रहशालिनी है!-कैसा अद्भुत न्याय है ?

विधवाविवाह में आरम्भ कम है, परन्तु इसका कारण गुण्डों का तमाशा नहीं है। तमाशे के लिये तो ज़्यादः आरम्भ की ज़रूरत है। विधवाविवाह तमाशा नहीं है इसलिये आरम्भ कम है। असली बात तो यह है कि विधवाविवाह में शामिल

होने वाले पुरुष धर्मज्ञ, दयालु, विवेकी और द्रव्य क्षेत्र काल भाव के ज्ञाता होते हैं, इसलिये उसमें किसी भी तरह के ढोंग और कुरूढ़ियों को स्थान नहीं मिलता। इसीलिये उसमें आरम्भ कम होता है। इस तरह विधवाविवाहमें विवाहरूपता है, अल्प आरम्भ है, अधिक परिग्रह नहीं है, वेश्यासेवन जैसा नहीं है। वेश्यासेवन या परस्त्री-सेवन से विधवाविवाह में क्या फरक है, यह बात हम पहिले बतला चुके हैं।

आक्षेप (घ)—जब विधवाविवाह होने लगेंगे, तब बड़े बड़े मोटे मोटे पुरुषत्वहीन पुरुषों की हत्याएँ होंगी और तलाक़ का बाजार गर्म होगा। (श्रीलाल)

समाधान—आक्षेपक के कथन से मालूम होता है कि समाजमें बहुत से बड़े बड़े मोटे मोटे पुरुष ऐसे हैं जो नपुन्सक होकर भी स्त्री रखने का शौक रखते हैं। अगर यह बात सच है तो एक ऐसे क़ानून की बड़ी आवश्यक्ता है जिससे ऐसे भ्रष्ट, बेईमान, निर्लज्ज और धोखेबाज नपुंसकों को आजन्म काले पानी की सजा दी जा सके, जो नपुन्सक होते हुए भी एक स्त्री के जीवन को बर्बाद कर देते हैं, उसे जीते जी जीवन भर जलाते हैं—उनका अपराध तो मृत्युदण्ड के लायक है। विष देना पाप है, परन्तु ऐसे पापियोंको विष देना ऐसा पाप है जो क्षन्तव्य कहा जासकता है। निःसन्देह ऐसे पापी, श्रीमानों में ही होते हैं। क्योंकि पहिले तो गरीबों में ऐसे नपुन्सक होते ही नहीं हैं। अगर कोई हुआ भी, तो जब पुरुषत्व होने पर भी गरीबों के विवाह में कठिनाई है तो पुरुषत्वहीन होने पर तो विवाह ही कैसे होगा? श्रीमान् लोग तो पैसे के बल पर विवाह करा लेते हैं। अगर वे विवाह न करावें तो लोग योंही कहने लगें कि क्या भैयासाहिब नपुन्सक हैं? इसलिये वे विवाह कराते हैं और अपने घर में दर्जी, सुनार, लोदी

आदि किसी भी जाति का गुन्डा नौकर रख लेते है जिससे श्रीमतीजी की कामवासना शान्त होती रहती है, तथा उन के तो नहीं उनके नाम के बच्चे पैदा होते रहते है। ऐसी हालत में विष देने की भी क्या जरूरत हैं? अगर श्रीमती जी पतिव्रता निकलीं तो वे विष ही क्यों देंगी?

विधवाविवाह होने पर तलाक का रिवाज चलाना न चलाना अपने हाथ में है। शताब्दियों से स्त्री-जाति के ऊपर हम नारकीय अत्याचार करते आरहे है। आये दिन कौटुम्बिक अत्याचारों से स्त्रियों की आत्महत्या के समाचार मिलते है। उनके ऊपर इतने अत्याचार किये जाते है जितने पशुओं पर भी नहीं किये जाते। कसाई के पास जाने वाली गाय तो दस पन्द्रह मिनट कष्ट सहती है और उस समय उसे ज़्यादः नहीं तो चिल्लाने का अधिकार अवश्य रहता है। लेकिन नारीरूपी गायको तो जीवनभर यन्त्रणाएँ सहना पड़ती है और उसे चिल्लाने का भी अधिकार नहीं होता। पुरुष तो रात रातभर रंडी और परस्त्रियोंके यहाँ पडा रहे, वर्षों तक अपनी पत्नीका मुंह न देखे, फिरभी अपनी पत्नीको जीवनभर गुलाम रखना चाहे, यह अन्धेर कबतक चलेगा? हमारा कहना तो यही है कि अगर पुरुष, अपने अत्याचारों का त्याग नही करता तो तलाक़ प्रथा जरूर चलेगी। अगर पुरुष इनका त्याग करता है तो तलाक़ प्रथा न चलेगी।

आक्षेप (ङ)—विधवाविवाह वालों को विधवा का विवाह करके भी शङ्का लगी हुई है तो पहिले से ही विधवा से क्यों नहीं पूछलिया जाता कि तेरी तृप्ति कितने मनुष्यों से होगी?

समाधान—हमने कहा था कि विधवाविवाह कोई पाप नहीं है। हाँ, विधवाविवाह के बाद कोई दूसरा (हिंसा झूँठ चोरी कुशील आदि) पाप करे तो उसे पाप बन्ध होगा। सो

तो कुमारी-विवाहके बाद और मुनिवेष लेने के बाद भी होता है। हमारे इस वक्तव्य के ऊपर आक्षेपक ने ऊपर का (ङ) बेहूदा और अप्रासङ्गिक आक्षेप किया है। खैर, उसपर हमारा कहना है कि स्त्री तो यही चाहती है कि एक ही पति के साथ जीवन व्यतीत हो जाय। परन्तु जब वह मरजाता है तो विवश होकर उसे दूसरे विवाहके लिये तैयार होना पडता है। विवाह के समय वह बिचारी क्या बतलाए कि कितने पुरुषों से तृप्ति होगी? वह तो एक ही पुरुष चाहती है। हाँ, यह प्रश्न तो उन निर्लज्जों से पूछो, जो कि एक तरफ़ तो विधवाविवाह का विरोध करते हैं और दूसरी तरफ जब पहिली स्त्रीको जलाने के लिये मरघट में जाते हैं तो वहीं दूसरे विवाह की चर्चा करने लगते हैं और इसी तरह चार चार पाँच पाँच स्त्रियाँ हड़प करके कन्याकुरंगी केसरी की उपाधि प्राप्त करते हैं। अथवा उन धूर्तों से पूछो जो विधवाविवाहवालों का बहिष्कार करने के लिये तो बडा गर्जन तर्जन करते हैं, परन्तु खुद एक स्त्री के रखते हुए भी दूसरी स्त्री का हाथ पकडने में लज्जित नहीं होते। दैव की सतायी हुई बिचारी विधवा से क्या पूछते हो? शराबियों को भी मात करनेवाली असभ्यता और कसाइयों को भी मात करने वाली क्रूरता के बल पर बिचारी विधवाओं का हृदय क्यों जलाते हो।

चौथा प्रश्न

चौथे प्रश्न के उत्तर में तो दोनों ही आक्षेपक बहुत बुरी तरह से लडखडाते है। इस प्रश्न के उत्तर में हमने कहा था कि परस्त्रीसेवन, वेश्यासेवन और बिना विवाह के पत्नी बना लेना, ये व्यभिचार की तीन श्रेणियाँ हैं। विधवाविवाह किसी में भी शामिल नहीं हो सकता। कुमारी भी परस्त्री है, लेकिन

विवाह से स्वस्त्री बन जाती है। उसी प्रकार विधवा भी विवाह से स्वस्त्री बन जाती है। श्रीलालजी ने व्यभिचार की उपर्युक्त तीन श्रेणियाँ स्वीकार कीं, जब कि विद्यानन्द उस के विरुद्ध है। हर बात के उत्तर में दोनों आक्षेपक यही कहते हैं कि "विधवाविवाह धर्मविरुद्ध है, कन्या का ही विवाह होता है आदि"। इन सब बातों का खूब विवेचन हो चुका है।

आक्षेप (क)—विधवा कभी भी दूसरा पति नहीं करेगी जबतक कामाधिक्य न हो। लोकलज्जा आदि को तिलाञ्जुली दे जो दूसरे पति को करने में नहीं हिचकती, वह उस दूसरे करे हुए पति में सन्तोष रक्खे, असम्भव है। अत: उसका तीसरा चौथा और जार पुरुष भी होना सम्भव है। अतएव वह भी एक प्रकार वेश्यासंगम जैसा हुआ। (श्रीलाल)

समाधान—एक मनुष्य अगर प्रतिदिन आध सेर अनाज खाता है, इस तरह महीने में १५ सेर अनाज खाने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह बड़ा अघोरी है, पन्द्रह पन्द्रह सेर अनाज खा जाता है। इसी प्रकार एक स्त्री अगर एक समयमें एक पति रखती है और उसके स्वर्गवास होने पर अपना दूसरा विवाह कर लेती है तो उसे अनेक पति वाली नहीं कह सकते जिससे उसमें कामाधिक्य माना जावे। एक साथ दो पति रखने में या एक साथ दो पत्नी रखने में कामाधिक्य कहा जा सकता है। इस दृष्टिसे पुरुषों में ही कामाधिक्य पाया जा सकता है।

दूसरी बात यह कि आक्षेपक कामाधिक्य का अर्थ ही नहीं समझा। मानलीजिये कि एक स्त्री ने यह प्रतिज्ञा ली कि महीने में सिर्फ़ एक दिन (ऋतु काल के बाद) काम सेवन करूँगी। वह इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ रही। ऐसी हालत में अगर वह विधवा हो जावे और फिर विवाह करले और इसके बाद

भी वह पूर्व प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे तो उसमें कामाधिक्य (काम की अधिकता) नहीं कहा जा सकता। और दूसरी स्त्री जो सधवा ही बनी रही है और प्रतिदिन या दो दो चार चार दिन में काम सेवन करती है उसमें कामाधिक्य है। काम की अधिकता कामाधिक्य है, न कि काम के साधनों का परिवर्तन। इसलिये पति या पत्नी के बदल जाने से कामाधिक्य नहीं कहा जा सकता।

लोकलज्जा के नामपर अन्याय या अत्याचार सहना पाप है। धर्मविरुद्ध कार्य में लोकलज्जा से डरना चाहिये, लेकिन आँख मूँदकर लोक की बातों को धर्मसंगत मानना मूर्खता है। जो काम यहाँ लोकलज्जा का कारण है वही अन्यत्र लोकलज्जा का कारण नहीं है। कहीं कहीं तो धर्मानुकूल काम भी लोक-लज्जा के कारण होजाते है जैसे, अन्तर्जातीयविवाह, चारसाँक में विवाह, स्त्रियों के द्वारा भगवान की पूजा, प्रक्षाल, शूद्रोंको धर्मोपदेश देना पर्दा न करना, वस्त्राभूषणोंमें परिवर्तन करना, निर्भीकता से बोलना, स्त्रीशिक्षा, अत्याचारी शासक या पञ्च के विरुद्ध बोलना आदि। किस किस बात में लोकलज्जा का विचार किया जायगा ? ज़माना तो ऐसा गुज़र चुका है कि जैनधर्म धारण करने से ही लोकनिन्दा होती थी, दिगम्बर वेष धारण करने से निन्दा होती थी। तो क्या उसे छोड़ देना चाहिये ? और आजकल भी ऐसे लोग पड़े हुए है—जिनमें आक्षेपक का भी समावेश है—जो कि भगवान महावीर की जयन्ती मानना भी निन्दनीय समझते है। जब ऐसे धर्मानुकूल कार्यों की निन्दा करने वाले मौजूद है तब लोकनिन्दा की कहाँ तक पर्वाह की जाय ? इसके अतिरिक्त धर्मविरुद्ध कार्य भी लोक-प्रशंसा के कारण हो जाते है या लोक-निन्दा के कारण नहीं होते। जैसे—सीथियन जाति में प्रत्येक पुरुष का प्रत्येक

स्त्री पर और प्रत्येक स्त्री का प्रत्येक पुरुष पर समान अधिकार रहता है, इससे वहाँ सब पुरुष अपने को भाई २ समझते हैं। चीन में भी फूशीके राजत्वकाल तक ऐसा ही नियम था। इसी तरह आयर्लेंगड की केल्टिक जाति के बारे में भी है। फेलिक्स अरेबिया में और कोरम्बा जाति में भी ऐसा ही नियम था। ऑस्ट्रेलिया में विवाह के पहिले समागम करना बुरा नहीं समझा जाता था। बैबिलोनमें प्रत्येक स्त्रीको विवाह के बाद व्हीनस के मन्दिर में बैठकर किसी अपरिचित आदमी के साथ सहवास करना पड़ता था। जब तक वह ऐसा न करे, तब तक वह घर नहीं जा सकती थी। अर्मीनियन जाति में कुमारी स्त्रियाँ विवाह के पहिले वेश्यावृत्ति तक करती हैं परन्तु इसमें लोकलज्जा नहीं समझी जाती। प्राचीन रोम में विवाह के पहिले यदि कोई लड़की व्यभिचारवृत्ति से पैसा पैदा नहीं कर पाती थी तो उसे बहुत लज्जित होना पड़ता था। चिपचा जाति में अगर किसी पुरुष को यह मालूम हो कि उसकी स्त्री का अभी तक किसी पुरुष से समागम नहीं हुआ तो वह अपने को अभागा समझता था और अपनी स्त्री को इसलिये तुच्छ समझता था कि वह एक भी पुरुष का चित्ताकर्षण न कर सकी। वोटियाक लोगों में अगर किसी कुमारी के पीछे नवयुवकों का दल न चले तो उसके लिये यह बड़े अपमान की बात समझी जाती है। वहाँ पर कुमारावस्था में ही माता बनजाना बड़े सौभाग्य और सन्मान की बात मानी जाती है। इस विषय में इसी प्रकार के अद्भुत नियम चियेवे, केमैग्मट, कूकी, किचनूक, रेड इन्डियन, चुकची, एस्किमो, डकोटा, मौंगोलकारेन, डोडा; रेड कारेन, टेहिटियन, आदि जातियों में तथा इसके अतिरिक्त कमेस्क डैल,

अलीटस, उत्तरी एशिया, टहीटी, मैकरोनेशिया, कैण्ट्रोन आदि देश और द्वीपों के निवासियों में भी पाये जाते हैं। इसलिये जो लोग लोकलज्जा और लोकाचार की दुहाई देकर कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना चाहते हैं वे मूर्ख हैं। हमारे कूपमण्डूक पण्डित बार बार चिल्लाया करते हैं—"क्योंजी, ऐसा भी कहीं होता है?" उन्हें जानना चाहिये कि यह "कहीं" और 'लोक' तुम्हारे घर में ही सीमित नहीं हैं। 'कहीं' का क्षेत्र व 'लोक' बहुत बड़े और विचित्र हैं, और उन्हें जानने के लिये विस्तृत अध्ययन की जरूरत है। लोकाचार, क्षेत्र काल की अपेक्षा विविध और परिवर्तनशील है, इसलिये उस को कसौटी बनाना मूर्खता है। हम तो कहते हैं कि अगर विधवा-विवाह धर्मविरुद्ध है तो वह लोकलज्जा का विषय हो या न हो, वह त्यागने योग्य है; और अगर वह धर्मविरुद्ध नहीं है तो लोगों के बकवाद की चिन्ता न करके उसे अपनाना चाहिये। धर्मानुकूल समाजरक्षा और न्याय के लिये अगर लोकलज्जा का सामना करना पड़े तो उसको जीतना परिषह विजय के समान श्रेयस्कर है।

इसके बाद पुनर्विवाहिताओं के विषय में आक्षेपक ने जो शब्द लिखे हैं वे धृष्टता के सूचक हैं। अगर पुनर्विवाहिता के तीसरा चौथा और जार पुरुष होना भी सम्भव है तो पुनर्विवाहित पुरुष के तीसरी चौथी पाँचवीं तथा अनेक रखैल माशूकाएँ होना सम्भव है। इस तरह पुनर्विवाह करने वाला—आक्षेपकके कथनानुसार—भँडुआ है। आक्षेपक की सम्भावना का कुछ ठिकाना भी है। एक साथ हज़ारों स्त्रियाँ रखने वाला पुरुष तो सन्तोषी माना जाय और पुनर्विवाह करके एक ही पुरुष के साथ रहने वाली स्त्री असन्तुष्ट मानी जाय, यह आक्षेपक की अन्धेर नगरी का न्याय है। पाठक देखें कि

आक्षेपक से जब विधवाविवाह के विरोध में कुछ कहते नहीं बन पड़ा तब उसने यह वेहूदा बकवाद शुरू कर दिया है।

आक्षेप (ख)—विवाह तो कन्या का होता है सो भी कन्यादान पूर्वक। वह विधवा न कन्या है न उसका कोई देने वाला। जिसकी थी वह चल बसा····वह किसी के लिये वसीयत कर गया नहीं, अब देने का अधिकारी कौन ? (श्रीलाल)

समाधान—इन आक्षेपों का समाधान प्रथम प्रश्न के उत्तर में कर चुके हैं। देखो, 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'घ'। हमारे विवेचन से सिद्ध है कि स्त्री सम्पत्ति नहीं है। जब सम्पत्ति नहीं है तो उसकी वसीयत करने का अधिकार किसे है। कन्यादान भी अनुचित है। यह जबर्दस्ती का दान है; अत कुदान है। इसलिये आचार्य सोमदेव ने कुदानों की निन्दा करते हुए लिखा है :—

हिरण्यपशु भूमीनाम्कन्याशय्यान्नवाससाम्।
दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पाप मुपशाम्यति॥

चाँदी, पशु, जमीन, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र आदि दानों से पाप शान्त नहीं होता। अगर विवाह का लक्षण कन्यादान होता तो वह कुदान में शामिल कभी न किया जाता। यह बात पण्डितों के महामान्य त्रिवर्णाचार में भी पायी जाती है :—

कन्याहस्ति सुवर्ण वाजि कपिला दासी तिलास्यन्दन।
क्ष्मा गेहे प्रतिबद्धमत्र दशधा दानं दरिद्रेप्सितम्॥
तीर्थान्ते जिनशीतलस्य सुतरामाविश्चकार स्वयं।
लुब्धो वस्तुषु भूतिशर्म तनयो-सौमुण्डशालायनः॥

कन्या, हाथी, सुवर्ण, घोड़ा, गाय, दासी, तिल, रथ, ज़मीन, ये दरिद्रों को इष्ट दश प्रकार के दान हैं, जिन का,

शीतलनाथ के तीर्थ के अन्त में भूतिशर्मा के पुत्र मुण्डशालायन ने आविष्कार किया था।

इससे सिद्ध है कि कन्यादान, जैनधर्म में नहीं है। शीतलनाथ स्वामी के पहिले कन्यादान का रिवाज ही नहीं था। तो क्या उसके पहिले विवाह न होता था? तब तो ऋषभदेव, भरत, जयकुमार सुलोचना आदि का विवाह न मानना पड़ेगा। कन्यादान को विवाह मानने से गान्धर्व आदि विवाह, विवाह न कहलायेंगे। श्रीकृष्ण का रुक्मणी के साथ जो विवाह हुआ था उसमें कन्यादान कहाँ था? क्या वह विवाह नाजायज़ था? स्मरण रहे कि इसी विवाह के फलस्वरूप, रुक्मणी जी के गर्भ से तद्भवमोक्षगामी प्रद्युम्न का जन्म हुआ था। ख़ैर, इस विषय में हम पहिले बहुत कुछ लिख चुके हैं। मुख्य बात यह है कि कन्यादान विवाह का लक्षण नहीं है।

आक्षेप (ग)—पुरुष भोक्ता है, स्त्री भोज्य है। पुरुष जब अनेक भोज्यों के भोगने की शक्ति रखता है तब क्यों नहीं एक भोज्य के अभाव में दूसरे भोज्य को भोगे। (श्रीलाल)

समाधान—पुरुष भोक्ता है परन्तु वह भोज्य भी है। इसी प्रकार स्त्री भोज्य है परन्तु वह भोक्ती (भोगने वाली) भी है। इसलिये भोज्य-स्त्री के अभाव में, पुरुष को अधिकार है कि वह दूसरी भोज्य-स्त्री प्राप्त करे, इसी प्रकार भोज्य-पुरुष के अभाव में स्त्री को अधिकार है कि वह दूसरा भोज्य-पुरुष प्राप्त करे। शक्ति का विचार किया जाय तो पुरुष में जितनी स्त्रियों को भोगने की ताक़त है उससे भी ज़्यादः पुरुषों को भोगने की ताक़त स्त्री में है।

जहां भोज्यभोजक सम्बन्ध होता है वहाँ यह बात देखी जाती है कि भोग से भोजक को सुखानुभव होता है और भोज्य को नहीं होता। स्त्री पुरुष के भोग में तो दोनों को

सुखानुभव होता है, इसलिये उनमें से किसी एक को भोज्य या किसी एक को भोजक नहीं कह सकते। असल में दोनों ही भोजक हैं। अगर स्त्री को भोजक न माना जायगा तो स्त्रियों के लिये कुशील नाम का पाप ही नहीं रहेगा, क्योंकि कुशील करने वाला (भोजक) तो पुरुष है न कि स्त्री। इस लिये स्त्री का क्या दोष है? हिंसा करने वाला हिंसक कहलाता है न कि जिसकी हिंसा की जाय वह। चोरी करने वाला चोर कहलाता है न कि जिसकी चोरी की जाय वह। इसलिये जो व्यभिचार करने वाला होगा वही व्यभिचारी कहलायगा न कि जिसके साथ व्यभिचार किया जाय वह। इसलिये स्त्रियाँ सैकड़ों पुरुषों के साथ सम्भोग करने पर भी व्यभिचार पाप करने वाली न कहलायँगी, क्योंकि वे भोजक (भोग करने वाली) नहीं है। अगर स्त्रियों को व्यभिचार का दोष लगता है तो कहना चाहिये कि उनमें भी भोक्तृत्व है।

भोक्तृत्व के लक्षण पर विचार करने से भी स्त्रियों में भोक्तृत्व मानना पडता है। दूसरी वस्तु की ताकत को ग्रहण करने की शक्ति को भोक्तृत्व कहते हैं (पर द्रव्यवीर्यादान॰ सामर्थ्यं भोक्तृत्वलक्षणम्—राजवार्तिक)। स्त्री पुरुष के भोगमें हमें विचारना चाहिये कि कौन किसकी ताकत ग्रहण करता है और कौन अपनी शक्तियों को ज़्यादः वर्बाद करता है। विचार करते ही हमें मालूम होगा कि भोक्तृत्व स्त्री में है न कि पुरुष में, क्योंकि सम्भोग कार्य में पुरुष की ज़्याद शक्ति नष्ट होती है। दूसरी बात यह है कि स्त्रीके रजको पुरुष ग्रहण नहीं कर पाता बल्कि पुरुष के वीर्य को स्त्री ग्रहण करलेती है। राजवार्तिक के लक्षणानुसार, ग्रहण करना ही भोक्तृत्व है।

स्त्रीको जूँठी थालीके समान बतलाकर भोज्य ठहराना अनुचित है, क्योंकि पुरुष को भी गन्ने के समान ठहरा कर

भोज्य सिद्ध कर दिया जायगा। यदि एक पुरुष के सगम से स्त्री जूँठी हो जाती है तो एक स्त्रीके सगम से पुरुष भी जूँठा हो जाता है। इसलिये अगर जूँठी स्त्री को सेवन करने वाला चांडाल या कुत्ता है तो जूँठे पुरुषको सेवन करने वाली चांडालिन या कुतिया है। अगर दूसरी बात ठीक नहीं तो पहिली बात भी ठीक नहीं है।

भोज्य-भोजकके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह उपभोग का प्रकरण है। भोजन वगैरह तो भोग हैं और वस्त्र वगैरह उपभोग हैं। स्त्री के लिये पुरुष उपभोग सामग्री है और पुरुष के लिये स्त्री उपभोग सामग्री है। इसलिये यहाँ जूँठी थाली आदि भोग सामग्री का उदाहरण ठीक नहीं हो सकता है। उपभोग में यह नियम नहीं है कि एक सामग्री का एक ही व्यक्ति उपभोग करे। जिस विस्तर पर एक आदमी सो लेता है उसी पर अगर दूसरा लेटजावे तो वह जूँठा खानेवाला या उसके समान न कहलायेगा। एक साबुन की बट्टी का चार आदमी उपयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार कुर्सी, टेबुल, पलंग, चौकी, मोटरगाड़ी, रेलगाडी, चटाई, साइकिल, मोती, माणिक आदि वस्तुओंका अनेक आदमी उपयोग कर सकते हैं, लेकिन इससे कोई जूँठन खाने वाले के समान नहीं कहलाता। इसलिये अगर थोड़ी देर के लिये स्त्री को भोज्य (उपभोग-सामग्री) मान लिया जाय तो भी उसके पुनर्विवाह को घृणित नहीं कहा जा सकता।

जिस समय माता, अपने बच्चे की सेवा करती है, उस समय माता बच्चे की उपभोग सामग्री है, इसलिये क्या माता अब दूसरे बच्चे की सेवा नहीं कर सकती? क्या वह जूँठी हो गई? एक नौकर अपने मालिक के हाथ पैर आदि दबाता (सवाहन करता) है तो क्या वह जूँठा होगया? भोग सामग्री

और उपभोग सामग्रीमें बड़ा फ़रक है, यह सदा स्मरण रखना चाहिये। उपभोग सामग्री दूसरे के लिये घृणित नहीं होजाती। हाँ, अगर एकाध चीज थोडी बहुत घृणित कहलावे भी, तो यह नियम कदापि नहीं कराया जा सकता कि उपभोग सामग्री हो जाने से घृणित हो ही गई। क्योंकि ऐसा मानने से कुर्सी चौकी आदि का दुबारा उपयोग करना भी घृणित कहलाने लगेगा।

आक्षेप (घ)—ऐसा कहीं न देखा सुना होगा कि एक स्त्री के अनेक पुरुष हों, जिस प्रकार एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ होती हैं यह सिद्धान्त कितना अटल है? (श्रीलाल)

समाधान—आक्षेपक के सिद्धान्त की अटलता का तिब्बत में—जिसे प्राचीनकालमें त्रिविष्टप या स्वर्ग कहते थे—दिवाला निकला हुआ है। वहाँ पर एक स्त्रीके एक साथ चार चार छः छः पति होते हैं। और अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों में एक पुरुष को एक से अधिक पत्नी रखने का अधिकार नहीं है। प्राकृतिक बात यह है कि एक पुरुष और एक स्त्री का दाम्पत्य सम्बन्ध हो। हाँ, अगर शक्तिका दुरुपयोग करना हो तो एक पुरुष अनेक स्त्री रख सकता है और एक स्त्री अनेक पुरुष रख सकती है। अटल नियम कुछ भी नहीं है। अगर थोडी देर के लिये आक्षेपक की बात मानली जाय कि एक स्त्री एक ही पुरुष रख सकती है तोभी उसके पुनर्विवाह का अधिकार छिन नहीं जाता। एक आभूषण एक समय में एक ही आदमी के काम में आ सकता है। क्या इसीलिये फिर कोई उसका उपयोग नहीं कर सकता? स्त्री तो रत्न है। रत्न एक समय में एक ही आदमी की शोभा बढ़ाता है, लेकिन समयान्तर में दूसरे के काम में भी आता है।

आक्षेप(ङ)—एक पुरुष अनेक स्त्रियों से एक वर्ष में

अनेक सन्तान उत्पन्न कर सकता है परन्तु एक स्त्री, अनेक पुरुषों को भी रखकर एक सन्तान से अधिक पैदा नहीं कर सकती। (श्रीलाल)

समाधान—यदि ऐसा है तो स्त्रियोंका पुनर्विवाह तुरन्त चालू कर देना चाहिये, भले ही पुरुषों का पुनर्विवाह रोक दिया जाय। क्योंकि अनेक सन्तान पैदा करने के लिये तो एक पुरुष ही काफी है; इसलिये बहुत पुरुष कुमार या विधुर रहें तो सन्तान संख्या की दृष्टि से कोई हानि नहीं है, किन्तु स्त्री तो एक भी कुमारी या विधवा न रह जाना चाहिये; क्योंकि उनके वैधव्य या कौमार्य से संख्या घट जायगी। यह कहाँ का न्याय है कि जिसकी हमें अधिक ज़रूरत है वह तो व्यर्थ पड़ी रहे और जिसकी थोड़ी जरूरत है उसकी ज़्यादः क़द्र की जाय। प्रकृति ने जो स्त्री पुरुष के बीच में अन्तर उत्पन्न कर दिया है, उससे मालूम होता है कि विधुरविवाह की अपेक्षा विधवा-विवाह की गुणा आवश्यक है।

आक्षेप (च)—सब विषय समान नहीं हुआ करते। एक ही सम्भोग क्रिया से स्त्री को गर्भधारण आदि अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं और पुरुष को कुछ नहीं। अब कहाँ गये समान बनाने वाले न्यायतीर्थ जी? (श्रीलाल)

समाधान—स्त्री पुरुषों में शारीरिक समानता नहीं है इसलिये उनके अधिकारों में भी विषमता होना चाहिये और उस विषमता में पुरुषों को अधिक अधिकार मिलना चाहिये यह नहीं कहा जासकता। अगर कोई कहे कि स्त्री पुरुष में शारीरिक विषमता है, इसलिये पुरुष के मरने पर स्त्री को भोजन करने का भी अधिकार नहीं है (उसे भूखों रह कर मर जाना ही उचित है), तो क्या यह उचित है? प्रकृतिविरुद्ध विषमता पैदा करने का हमें क्या अधिकार है? हाँ, अगर

प्रकृति ने कोई ऐसी विषमता पैदा की होती जिससे पुनर्विवाह का निषेध मालूम होता तो कहने को गुंजाइश थी। अगर विधवा हो जाने से स्त्री का मासिकधर्म रुक जाता, स्त्रीत्व के चिन्ह नष्ट हो जाते या बिगड़ जाते तो कुछ अवश्य ही स्त्री के पुनर्विवाह का अधिकार छीना जाता।

आक्षेपक ने जो विषमता बतलाई है उससे तो स्त्रियों को ही विशेष अधिकार मिलने चाहियें, क्योंकि कर्तव्य और अधिकार ये एक ही सिक्के के दो पृष्ठ (बाजू) हैं। इसलिये न्यायोचित बात यह है कि जहाँ कर्तव्य अधिक है वहाँ अधिकार भी अधिक है सन्तानोत्पत्ति में स्त्रियों का जितना कर्तव्य है उसका शतांश कर्तव्य भी पुरुषों का नहीं है; इसलिये स्त्रियों को ज़्यादः अधिकार मिलना चाहियें।

स्त्री सम्पत्ति है, इसके खण्डन के लिये देखो प्रश्न पहिला समाधान 'ओ'। स्त्री यावज्जीव प्रतिज्ञा करती है और पुरुष भी करता है। खुलासे के लिये देखो प्रश्न पहिला समाधान ए (१-ए)।

अमरकोष और धनञ्जयनाममाला के पुनर्भू शब्द का खुलासा '१—त' में देखिये। विवाह आठ प्रकार के हैं; उनमें विधवाविवाह नहीं है—इसका उत्तर आक्षेप "१—ज" में देखिये।

आक्षेप (छ)—व्यभिचार की तीन श्रेणियाँ ठीक नहीं हैं। रखैल के साथ सम्भोग करना परस्त्रीसेवन की कोटि का ही पाप है। रखैल और विधवाविवाह में कुछ भेद नहीं है। परस्त्रीसेवन को व्यभिचार मान लेने से विधवाविवाह भी पाप सिद्ध हो गया; इसलिये सव्यसाची निग्रहस्थान पात्र है।

(विद्यानन्द)

समाधान—व्यभिचार की तीन श्रेणियाँ श्रीलाल जी ने

मानी है, विद्यानन्द नहीं मानते है। और, परस्त्रीसेवन में वेश्या-सेवन से अधिक पाप है जबकि रखैल स्त्री के साथ सम्भोग वेश्यासेवन से छोटा पाप है। इसका कारण संक्लेश की न्यूनता है। परस्त्रीसेवन में वेश्यासेवन की अपेक्षा इसलिये ज्यादः सक्लेशता है कि उसमें परस्त्री के कुटुम्बियों का तथा पड़ोसियों का भय रहता है, और ज्याद: मायाचार करना पड़ता है। वेश्यासेवन में ये दोनों बातें कम रहती हैं। रखैल स्त्री में ये दोनों बातें बिलकुल नहीं रहती हैं। व्यभिचार को उन दोनों श्रेणियों से यह श्रेणी बहुत छोटी है, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। इस तीसरी श्रेणीको व्यभिचार इसलिये कहा है कि ऐसी स्त्री से पैदा होने वाली सन्तान अपनी सन्तान नहीं कहलाती; और इनका परस्पर सम्बन्ध समाज की अनुमति के बिना ही होता है और समाज की अनुमति के बिना ही छूट जाता है। विधवाविवाह में ये दोष भी नहीं पाये जाते। इससे सन्तान अपनी कहलाती है। बिना समाज की सम्मति के न यह सम्बन्ध होता है न टूटता है। व्यभिचार का इससे कोई ताल्लुक नहीं। विवाह के समय जैसे अन्य कुमारियाँ कन्या (दुलहिन) कहलाती हैं, उसी प्रकार विवाह के समय विधवा भी कन्या कहलाती है। व्यभिचार की तीन श्रेणियाँ और विधवाविवाह का उनसे बाहर रहना इतना स्पष्ट है कि विशेष कहने की ज़रूरत नहीं है। जब विधवाविवाह परस्त्रीसेवन नहीं है तब परस्त्री-सेवनको व्यभिचार मान लेनेसे व्यभिचार कैसे सिद्ध होगया? आक्षेपक, यहाँ पर अनिग्रह में निग्रह का प्रयोग करके स्वय निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान में गिर गया है।

आक्षेप (ज)—जहाँ कन्या और वर का विवाहविधि के पूर्व सम्बन्ध हो जाता है वह गांधर्व-विवाह है। इसमें कन्या के साथ प्रवीचार होता है; इसलिये व्यभिचार श्रेणी से हलका

है। कुन्ती का पाण्डु के साथ पहिले गान्धर्वविवाह हो चुका था। वाद में उस अधर्मदोष को दूर करने के लिये नहीं, किंतु अपनी कुमारी कन्या का विवाह करना माता पिता का धर्म है इन नीति वाक्य को पालने के लिये उनने अपनी कुमारी कन्या कुन्ती का विवाह किया। गान्धर्वविवाह के अधर्म के दोष को दूर करने के लिये उन्हें कुन्ती का विवाह नहीं करना पडा, किन्तु पाण्डु को पात्र चुनना पडा। इसलिये विवाह व्यभिचार-दोष को दूर करने का अव्यर्थ साधन नहीं है। (विद्यानन्द)

समाधान—आक्षेपक ने यहाँ पर बडा विचित्र प्रलाप किया है। हमने कहा था कि विवाह के पहिले अगर किसी कुमारी से सम्भोग किया जायगा तो व्यभिचार कहलायगा, अगर विवाह के वाद सम्भोग किया जायगा तो व्यभिचार न कहा जायगा। मतलब यह कि विवाह से व्यभिचार दोष दूर होता है। इस वक्तव्य का उत्तर आक्षेपक से न वना। इसलिये उनने कहा कि विवाह के पहिले किसी कुमारी के साथ संभोग करना व्यभिचार ही नहीं है। तब तो पंडित लोग जिस चाहे कुमारी लडकी के साथ सभोग कर सकते है, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह व्यभिचार नहीं है। तारीफ़ यह है कि व्यभिचार न मानने पर भी इसे अधर्म मानते हैं। व्यभिचार तो यह है नहीं, वाक़ी चार पापों में यह शामिल किया नहीं जा सकता, इसलिये अब कौनसा अधर्म कहलाया? आक्षेपक ने गान्धर्वविवाह के लक्षण में भूल की है। प्रवीचार करना विवाह का अन्यतम फल है, न कि विवाह। गांधर्व विवाह में वर कन्या एक दूसरे से प्रतिज्ञावद्ध होजाते हैं, तब प्रवीचार होता है। विवाह के पहिले पाण्डु और कुन्ती का जो संसर्ग हुआ था वह व्यभिचार ही था। अगर वह व्यभिचार न होता तो उस संसर्ग से पैदा होने

वाली सन्तान (कर्ण) छिपाकर नदी में न बहादी जाती। हम कह चुके हैं कि व्यभिचार से जो सन्तान पैदा होती है वह नाजायज़ कहलाती हैं और विवाह से जो सन्तान पैदा होती है वह जायज कहलाती है। कर्ण नाजायज सन्तान थे, इसलिये वे बहादिये गये। और इसीलिये पाण्डु कुन्ती का प्रथम संयोग व्यभिचार कहलाया न कि गान्धर्व विवाह। अब हमें देखना चाहिये कि वह कौनसा कारण है जिससे कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न कर्ण तो नाजायज कहलाये, किन्तु युधिष्ठिर आदि जायज़ कहलाये, अर्थात् जिस संसर्ग से कर्ण पैदा हुए वह व्यभिचार कहलाया और जिससे युधिष्ठिर पैदा हुए वह व्य भिचार न कहलाया। कारण स्पष्ट है कि प्रथम संसर्ग के समय विवाह नहीं हुआ था और द्वितीय संसर्ग के समय विवाह हो गया था। इससे बिलकुल स्पष्ट है कि विवाह से व्यभिचार का दोष दूर होता है। इसलिये विवाह के पहिले किसी विधवा से संसर्ग करना व्यभिचार है और विवाह के बाद (विधवाविवाह होने पर) संसर्ग करना व्यभिचार नहीं है।

आक्षेपक के कथनानुसार अगर पाण्डु कुन्ती का प्रथम संयोग गान्धर्व-विवाह था तो कर्ण नाजायज़ संतान क्यों माने गये? उनको छिपाने की कोशिश क्यों की गई? कृष्णजी ने भी रुक्मणी का हरण करके रैवतक पर्वत के ऊपर उनके साथ गान्धर्व-विवाह किया था, परन्तु रुक्मणीपुत्र प्रद्युम्न तो नहीं छिपाये गये। दूसरी बात यह है कि जब पाण्डु कुन्तीका गांधर्व-विवाह हो गया था तो उनके माता पिता ने कुन्ती का दूसरी बार विवाह (पुनर्विवाह) क्यों किया? क्या विवाहिता का विवाह करना भी माता पिता का धर्म है? और क्या तब भी वह कन्या बनी रही? यदि हाँ, तो विधवा का विवाह करना

माता पिता या समाज का धर्म क्यों नहीं? और वह कन्या भी क्यों नहीं?

आक्षेपक के होशहवास तो यहाँ तक बिगड़े हुए हैं कि एक बच्चा पैदा कर देने के बाद भी कुन्ती को कुमारी कन्या बतला रहे हैं। जब एक बच्चे की मां कुमारी कन्या हो सकती है तब बेचारी विधवा, कुमारी कन्या नहीं, सिर्फ़ 'कन्या' क्यों नहीं हो सकती? कन्या के साथ कुमारी विशेषण लगा कर आक्षेपक ने यह स्वीकार कर लिया है कि कन्या कुमारी भी होती है और अकुमारी (विधवा) भी होती है।

आक्षेप (झ)—कुमारी जैसे स्वस्त्री बनायी जा सकती है उस प्रकार विधवा नहीं बनायी जा सकती। क्योंकि कुमारी परस्त्री नहीं है। आप कुमारी को परस्त्री कहने का साहस क्यों कर गये? वह तो स्त्री भी नहीं है। भावी स्त्री है।

समाधान—कुमारी, स्त्री तो अवश्य है, क्योंकि वह पुरुष अथवा नपुंसक नहीं है। परन्तु आक्षेपक ने स्त्री शब्द का भार्या अर्थ किया है। इसलिये उसी पर विचार किया जाता है। आचार शास्त्रों में ब्रह्मचर्याणुव्रती को कुमारी के साथ सम्भोग करने की मनाई है, इसलिये कुमारी परस्त्री है। अपनी स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को परस्त्री कहते हैं; इसलिये भी कुमारी परस्त्री है। कुन्ती को अपनी सतान छिपाना पड़ी; इसलिये भी सिद्ध होता है कि कुमारी परस्त्री है। राजनियमों के अनुसार भी कुमारी परस्त्री है। कल्पना कर लो, अगर पाण्डु अणुव्रती होते तो विवाह के बिना कुन्ती के साथ सम्भोग करने से उनका अणुव्रत क्या नष्ट न होता? जैनशास्त्रों के अनुसार उनका अणुव्रत अवश्य नष्ट होता। लेकिन विवाह करके अगर सम्भोग करते तो उनका अणुव्रत नष्ट नहीं होता। क्या इससे यह नहीं मालूम होता कि विवाह के द्वारा परस्त्री,

स्वस्त्री बन गई है। खैर! अगर आक्षेपक की यही मंशा है कि कुमारी को परस्त्री न माना जाय, क्योंकि वर्तमान में वह किसी की स्त्री नहीं है-भावी स्त्री है, तो इसमें भी हमें कोई ऐतराज नहीं है। परन्तु ऐसी हालत में विधवा भी परस्त्री न कहलायगी, क्योंकि वर्तमान में वह किसी की स्त्री नहीं है। जिसकी थी वह तो मर गया, इसलिये वह तो भूत-स्त्री है। इसलिये कुमारी के समान वह स्वस्त्री बनाई जा सकती है।

आक्षेप (ञ)—विवाह किसी अपेक्षा से व्यभिचार को दूर करने का कारण कहा भी जा सकता है। किन्तु कहा जा सकता है विवाह ही। विधवा सम्बन्ध की विवाह संज्ञा ही नहीं।

समाधान—शास्त्रों में जो विवाह का लक्षण किया गया है वह विधवाविवाह में जाता है। यह बात हम प्रथम प्रश्न में कन्या शब्द का अर्थ करते समय लिख आये है। लोक में भी विधवाविवाह शब्द का प्रचार है, इसलिये संज्ञा का प्रश्न निरर्थक है। इस आक्षेप को लिखने की जरूरत ही नहीं थी, परन्तु यह इसलिये लिख दिया है कि आक्षेपक ने यहाँ पर विवाह को व्यभिचार दूर करने का कारण मान लिया है। इसलिये विधवाविवाह व्यभिचार नहीं है।

आक्षेप (ट)—विवाह तो व्यभिचार की ओर रुजू कराने वाला है, अन्यथा भगवान् महावीर को क्या सूझी थी जो उन्हों ने ब्रह्मचर्यव्रत पाला?

समाधान—विवाह तो व्यभिचार की ओर रुजू कराने वाला नहीं है, अन्यथा श्रीऋषभदेव आदि तीर्थंकरों को क्या सूझी थी जो विवाह कराया? सभी तीर्थंकरों को क्या सूझी थी जो ब्रह्मचर्याणुव्रत का उपदेश दिया? आचार्यों को क्या सूझी थी कि पुराणों को विवाह की घटनाओं से भर दिया और

विवाहविधि के विषय में प्रकरण के प्रकरण लिखे? विवाह पूर्णब्रह्मचर्य का विरोधी है, ब्रह्मचर्याणुव्रत का बाधक या व्यभिचार का साधक नहीं है। अगर यह बात मानली जाय तो अकेला विधवाविवाह ही क्या, कुमारी विवाह भी व्यभिचार कहलायगा। अगर व्यभिचार होने पर भी कुमारीविवाह विधेय है तो विधवाविवाह भी विधेय है।

आक्षेप (ठ)—पुरुष इसी भव से मोक्ष जा सकते हैं, पुरुषों के उच्च संस्थान संहनन होते हैं, उनके शिश्न मूछें होती हैं। स्त्रियों में ये बातें नहीं हैं; इसलिये उन्हें पुरुषों के समान पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है। लक्षण, आकृति, स्वभाव, शक्ति की अपेक्षा भी महान् अन्तर है।

समाधान—आजकल के पुरुष न तो मोक्ष जा सकते हैं, न स्त्रियों से अधिक संहनन रख सकते हैं। इसलिये इन्हें भी पुनर्विवाह का अधिकार नहीं होना चाहिये। संस्थान तो स्त्रियों के भी पुरुषों के समान सभी हो सकते हैं (देखो गोम्मटसार कर्मकांड)। पुरुषों के शिश्न मूछें होती हैं और स्त्रियों के योनि और स्तन होते हैं। आक्षेपक के समान कोई यह भी कह सकता है कि पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके योनि और स्तन नहीं होते। लिङ्ग और मूँछें ऐसी चीज नहीं हैं जिनके ऊपर पुनर्विवाह की छाप खुदी रहती हो। देवों के और तीर्थंकरादिकों के मूँछें नहीं होतीं, फिर भी उनके अधिकार नहीं छिनते। दाढ़ी के बाल और मूँछें तो सौन्दर्य की विघातक और उतने स्थान की मलीनता का कारण हैं। उनसे विशेषाधिकार मिलने का क्या सम्बन्ध? ख़ैर, विषमता को लेकर स्त्रियों के अधिकार नहीं छीने जा सकते। संसार का प्रत्येक व्यक्ति विषम है। सूक्ष्म विषमता को अलग करदें तो स्थूल विषमता भी बहुत है। परन्तु विषमता

के कारण अधिकार छीनना अन्याय है। अगर यह नियम बनाया जाय कि जो इतना विद्वान हो उसे इतने विवाह करने का अधिकार है और जो विद्वान नहीं है उसे विवाह का अधिकार नहीं है, तो क्या यह ठीक होगा? दूसरी बात यह है कि जिस विषय का अधिकार है उसी विषय की समता, विषमता, योग्यता, अयोग्यता का विचार करना चाहिये। किसी के पैर में चोट आगई है तो बहुत से बहुत वह जूता नहीं पहिनेगा, परन्तु वह कपड़े भी न पहिने, यह कहाँ का न्याय है? किसी भी अधिकार के विषय में प्राय चार बातों का विचार किया जाता है। योग्यता, आवश्यक्ता, सामाजिक लाभ, स्वार्थत्याग। पुनर्विवाह के विषय में भी हम इन्हीं बातों पर विचार करेंगे। स्त्रियों में पुनर्विवाह की योग्यता तो है ही, क्योंकि पुनर्विवाह से भी वे सन्तान पैदा कर सकती हैं। संभोगशक्ति, रजोधर्म तथा गार्हस्थ्यजीवन के अन्य कर्तव्य करने की क्षमता उन में पाई जाती है। आवश्यक्ता भी है, क्योंकि विधवा हो जाने पर भी उनकी कामवासना जाग्रत रहती है, जिसके सीमित करने के लिये विवाह करने की ज़रूरत है। इसी तरह सन्तान की इच्छा भी रहती है, जिसके लिये विवाह करना चाहिये। वैधव्यजीवन बहुत पराश्रित, आर्थिक कष्ट, शोक, चिन्ता और संक्लेशमय तथा निराधिकार होता है, इसलिये भी उन को पुनर्विवाह की आवश्यक्ता है। कुछ इनीगिनी विधवाओं को छोड़ कर बाकी विधवाओं का जीवन समाज के लिये भार सरीखा होता है। वैधव्यजीवन के भीतर कैद हो जाने से बहुत से पुरुषों को स्त्रियाँ नहीं मिलतीं। इसलिये उनका जीवन दुःखमय या पतित हो जाता है। समाज की संख्या घटती है। विधवाविवाह से ये समस्याएं अधिक अंशों में हल हो जाती हैं. इसलिये विधवाविवाह से सामाजिक लाभ

है। स्वार्थत्याग तो ज़्यादः है ही, क्योंकि स्त्रियाँ सेवाधर्म का पालन ज़्यादह करती हैं। सन्तानोत्पत्ति में स्त्रियों को जितना कष्ट सहना पड़ता है, उसका शतांश भी पुरुषों को नहीं सहना पड़ता। विवाह होते ही स्त्री अपने पितृगृह का त्याग कर देती है। मतलब यह कि चाहे विवाह के विषय में विचार कीजिये, चाहे विवाहके फल के बारे में विचार कीजिये, स्त्रियों का स्वार्थत्याग पुरुषों के स्वार्थत्याग से कई गुणा ज़्यादह है। स्त्रियों में पुरुषों से विषमता ज़रूर है, परन्तु वह विषमता उन बातों में कोई त्रुटि उपस्थित नहीं करती, जो कि पुनर्विवाह के अधिकार के लिये आवश्यक है; बल्कि वह विषमता अधिकार बढ़ाने वाली ही है। क्योंकि पुरुष विधुर हो जाने पर तो किसी तरह गार्हस्थ्यजीवन गौरव के साथ बिता सकता है, साथ ही आर्थिक स्वातन्त्र्य और सुविधा भी रख सकता है, परन्तु विधवा का तो सामाजिक स्थान गिर जाता है और उसका आर्थिक कष्ट बढ़ जाता है। इसलिये विधुरविवाह की अपेक्षा विधवाविवाह की ज्याद आवश्यक्ता है। और स्वार्थत्याग में स्त्रियाँ ज्यादः हैं ही, इसलिये विधुरों को विवाह का अधिकार भले ही न हो, परन्तु विधवाओं को तो अवश्य होना चाहिये।

आक्षेप (ड)—स्त्री पर्याय निंद्य है। इसलिये उच्चपर्याय (पुरुषपर्याय) प्राप्त करने के लिये त्याग करना चाहिये।

(विद्यानन्द)

समाधान—स्त्रीपर्याय निंद्य है, अथवा अत्याचारी पुरुष समाज ने सहस्राब्दियों के अत्याचारों से उसे निंद्य बनाडाला है, इसकी मीमांसा हम विचारशील पाठकों पर छोड़ देते हैं। अगर आक्षेपक की बात मानली जाय तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को पुनर्विवाह की सुविधा ज़्यादः मिलना चाहिये, क्यों-

कि पुरुषों को अपनी उच्चता के लिहाज़ से ज्यादः त्याग करना चाहिये। मुनिपद श्रेष्ठ है और श्रावकपद नीचा। अब कोई कहे कि मुनि उच्च हैं, इसलिये उन्हें रण्डीबाज़ी करने का भी अधिकार है! गृहस्थ को तो मुनिपद प्राप्त करना है, इसलिये उसे रण्डीबाज़ी न करना चाहिये? क्या उच्चता के नामपर मुनियों को ऐसे अधिकार देना उचित है? यदि नहीं, तो पुरुषों को भी उच्चता के नाम पर पुनर्विवाह का अधिकार न रखना चाहिये। अथवा स्त्रियों का अधिकार न छीनना चाहिये।

इसी युक्ति के बल पर हम यह भी कह सकते हैं कि स्त्रियाँ अधिक निर्बल और निःसहाय हैं, इसलिये स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा ज्यादः सुविधा देना चाहिये।

आक्षेप (ढ)—विषय-भोगों की स्वच्छन्दता हरएक को देदी जाय तो वैराग्यका कारण बहुत ही कम मिला करे। छोटी अवस्था की विधवा का दर्शन होना कर्मवैचित्र्य का सूचक है, इससे उदासीनता आती है। (विद्यानन्द)

समाधान—पुरुष तो एक साथ या क्रम से हज़ारों स्त्रियाँ रक्खे, फिर भी वैराग्य के कारणों में कमी न हो और स्त्री के पुनर्विवाह मात्र से वैराग्य के कारण बहुत कम रह जायँ—यह तो विचित्र बात है! क्या संसार में दुःखों की कमी है जो वैराग्य उत्पन्न करने के लिये नये दुःख बनाये जाते हैं? क्या अनेक तरह की बीमारियाँ देखकर वैराग्य नहीं हो सकता? फिर चिकित्सा का प्रबन्ध क्यों किया जाता है? यदि आज जैनियों के वैराग्य के लिये संसार को दुःखी बनाने की ज़रूरत है तो जैनधर्ममें और आसुरीलीलामें क्या अंतर रह जायगा? यह तो रौद्रध्यान की प्ररूपणा है। जिनको वैराग्य पैदा करना है उन्हें, संसार वैराग्य के कारणों से भरा पड़ा है। मेघों और बिजलियों की क्षणभंगुरता, दिन रात मृत्यु का दौरा, अनेक

तरह की बीमारियाँ आदि वैराग्य की ओर झुकाने वाली हैं। पुराणों में ऐसे कितने मनुष्यों का उल्लेख है जिन्हें बालविधवाओं को देखकर वैराग्य पैदा हुआ हो? कर्मवैचित्र्य की सूचना पुण्य और पाप दोनों से मिलती है। विधवा के देखने से जहाँ पाप कर्म की विचित्रता मालूम होती है वहाँ विधवा-विवाह से पुण्य कर्म की विचित्रता मालूम होती है। जिस प्रकार एक स्त्री मर जाने पर पुण्योदयसे दूसरी स्त्री मिल जाती है, उसी प्रकार एक पुरुष के मर जाने पर भी पुण्योदय से दूसरा पुरुष मिल जाता है। वैराग्य के लिये बालविधवाओं की स्थिति चाहना ऐसी निर्दयता, क्रूरता और रुद्रता है कि जिसकी उपमा नहीं मिलती।

पाँचवाँ प्रश्न

इस प्रश्न का सम्बन्ध विधवाविवाह से बहुत कम है। इस विषयमें हमने लिखा था कि वेश्या और कुशीला विधवा के मायाचार में अन्तर है। कुशीला विधवा का मायाचार बहुत है। हाँ, व्यक्तिगत दृष्टि से किसी के अन्तरङ्ग भावों का निर्णय होना कठिन है। इस विषयमें आक्षेपकों को कोई ज्याद ऐतराज़ नहीं है, परन्तु 'विरोध तो करना ही चाहिये' यह सोच कर उनने विरोध किया है।

आक्षेप (क)—वेश्या, माया-मूर्ति है। व्यभिचार ही उसका कार्य है। वह अहर्निशि माया मूर्ति है। किन्तु यह नियम नहीं है कि कुशीला जन्मभर कुशीला रहे। (विद्यानन्द)

समाधान—यहाँ यह प्रश्न नहीं है कि पाप किसका ज्याद है? प्रश्न मायाचार का है। जो कार्य जितना छुपाकर किया जाता है उसमें उतना ही ज्यादः मायाचार है। वेश्या इस कार्य को छुपाकर नहीं करती, जबकि कुशीला को छुपाकर

करना पड़ता है। व्यभिचार के लिये नहीं, किन्तु पैसों के लिये वेश्या कृत्रिम प्रेम करके किसी आदमी के साथ मायाचार करती है जबकि कुशीला विधवा अपने पाप को सुरक्षित रखने के लिये सारी समाज के साथ मायाचार करती है। अपने व्यभिचार को छुपाने के लिये ऐसी नारियाँ मुनियों की सेवा सुश्रूषा में आगे आगे रहती है, देव पूजा आदि के कार्यों में अग्रेसर बनती हैं, तप आदि के ढोंग करती हैं जिससे लोग उन्हें धर्मात्माबाई कहें और उनका पापाचार भूले रहें। स्मरण रहे कि व्याघ्र से गोमुखव्याघ्र भयानक होता है। वेश्या अगर व्याघ्री है तो कुशीला गोमुखव्याघ्री है। सम्भव है कोई स्त्री जन्मभर कुशीला न रहे। परन्तु यह भी सम्भव है कि कोई स्त्री जन्मभर वेश्या न रहे। जब तक कोई कुशीला या वेश्या है, तभी तक उसकी आत्मा का विचार करना है।

आक्षेप (ख)—प्रश्न में मायाचार की दृष्टि से अन्तर पूछा गया है अतः पाप-कार्य की दृष्टि से अन्तर बतलाना प्रश्न के बाहर का विषय है। (विद्यानन्द)

समाधान—हमने कहा था कि, "जब हम वेश्यासेवन और परस्त्रीसेवन के पाप में अन्तर बतला सकते हैं तब दोनों के मायाचार में भी अन्तर बतला सकते हैं।" इसमें अन्य पाप से मायाचार का पता नहीं लगाया है, परन्तु अन्य पाप के समान मायाचार को भी अपने ज्ञान का विषय बतलाया है। यह भूल तो आक्षेपक ने स्वयं की है। उनने लिखा है—"व्यभिचार एक पाप-पथ है। उसपर जो जितना आगे बढ़गया वह उतना ही अधिक सर्व दृष्टि से पापी एवं महामायावी है।' पाप के अन्तर से माया का अन्तर दिखला कर आक्षेपक स्वयं विषय के बाहर गये हैं।

आक्षेप (ग)—सव्यसाची ने आन्तरिक भावों का निर्णय

कठिन लिखा है फिर भी मायाचार की तुलना की है। ये परस्पर विरुद्ध बातें कैसी? मन का हाल तो मनःपर्ययज्ञानी ही जान सकते हैं। (विद्यानन्द)

समाधान—मनःपर्ययज्ञानी को मन की बातका प्रत्यक्ष होता है लेकिन परोक्ष ज्ञप्ति तो श्रुतज्ञान से भी हो सकती है। वचन, आचरण तथा मुखाकृति आदि से मानसिक भावों का अनुमान किया जाता है। आक्षेपकने स्वयं लिखा है कि "किसका मायाचार किस समय अधिक है सो भगवान ही जानें, परन्तु वेश्या से अधिक कभी कुशीला का मायाचार युक्ति प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।" क्या यह वाक्य लिखते समय आक्षेपक को मनःपर्ययज्ञान था? यदि नहीं तो भगवान के ज्ञान की बात उनने कैसे जानली?

आक्षेप (घ)—कुशीला, पतिव्रता के वेष में पाप नहीं करती। जहाँ पति पातिव्रत होगा वहाँ तो कुशीलभाव हो ही नहीं सकते। (विद्यानन्द)

समाधान—आक्षेपक पतिव्रता के वेष और पातिव्रत के अन्तर को भी न समझ सके। वेश्याएँ भी सीता सावित्री आदि का पार्ट लेकर पतिव्रता का वेष धारण करती हैं, परन्तु क्या वे इसी से पतिव्रता होती हैं? क्या कुशीलाओं का कोई जुदा वेष होता है?

आक्षेप (ङ)—कुशीला हज़ार गुप्त पाप करती है, परन्तु जिन-मार्ग को दूषित नहीं करती। इसलिये विवाहित विधवा और वेश्या से कुशीला की कक्षा ऊँची कही गई है।

(विद्यानन्द)

समाधान—विवाहितविधवा और वेश्यासे कुशीला की कक्षा किस शास्त्र में ऊँची कही गई है? ज़रा प्रमाण दीजिये!

हमने विधवाविवाह को धार्मिक सिद्ध कर दिया है. इसलिये विवाहित विधवा जिनमार्ग दूषित करने वाली नहीं कही जा सकती। अथवा जब तक विधवाविवाह पर यह वादविवाद चल रहा है तब तक विधवाविवाह की धार्मिकता या अधार्मिकता की दुहाई न देना चाहिये। नहीं तो अन्योन्याश्रय आदि दोष आयेंगे। इस आक्षेप से यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पण्डिताऊ जैनधर्म के अनुसार कोई स्त्री रण्डी बनजाय या हजार गुप्त पाप करे तो जिनमार्ग दूषित नहीं होता और छिनाल बनजाय तो भी नहीं होता. नवजात बच्चों के प्राण लेले तो भी नहीं होता, लेकिन अगर वह किसी एक पुरुष के साथ दाम्पत्य बन्धन स्थापित करले तो बेचारे पण्डिताऊ जैनधर्म की मौत ही समझिये। वास्तव में ऐसे जैनधर्म को व्यभिचार पन्थ समझना चाहिये।

आक्षेप (च)—इन्द्रियतृप्ति करने में ही प्रसन्नता मानते हो तो आप शौक्से चार्वाक हो जाओ! (विद्यानन्द)

समाधान—रण्डी बनाने के लिये, हजारों गुप्त पाप करने के लिये धर्मधुरन्धर कहलाकर लौंडेबाज़ी करने के लिये, भ्रूणहत्या करने के लिये अगर कोई चार्वाक नहीं बनता तो विधवाविवाह के लिये चार्वाक बनने की क्या ज़रूरत है? यदि जैनधर्म में इन्द्रियतृप्ति को बिलकुल स्थान नहीं है तो अविरत सम्यग्दृष्टि के लिये "णो इन्द्रियेसु विरदो" अर्थात् 'अविरत सम्यग्दृष्टि जीव पाँच इन्द्रिय के विषयों से विरक्त नहीं होता' क्यों लिखा है? जैनी लोग कोमल विस्तर पर क्यों सोते हैं? स्वादिष्ट भोजन क्यों करते हैं? लड़कों बच्चों के होने पर भी विवाह क्यों कराते हैं? क्या यह इन्द्रिय विषय नहीं है? अथवा क्या ऐसे सब जैनी चार्वाक हैं? पुरुष जब दूसरा विवाह करता है तो क्या वैराग्य की भावना के

लिये स्त्री लाता है ? या पण्डितों के वेद त्रिवर्णाचार के अनुसार योनि पूजा के लिये लाता है ? क्या यह इन्द्रिय-विषय नहीं है ? क्या विधवाविवाह में ही अनन्त इन्द्रिय-विषय एकत्रित हो गये हैं ? क्या तुम्हारा जैनधर्म यही कहता है कि पुरुष तो मनमाने भोग भोगें, मनमाने विवाह करें, उससे वीतरागता को धक्का नहीं लगता, परन्तु विधवाविवाह से लग जाता है ? इसी को क्या "छोडो छोडो की धुन" कहते हैं ?

आक्षेप (छ)—कुशीला अपने पापों को मार्ग-प्रेम के कारण छिपाती है । ˙ ˙ वह भ्रूणहत्या करती है फिर भी विवाहित विधवा या वेश्या से अच्छी है । (विद्यानन्द)

समाधान—अगर मार्ग-प्रेम होता तो गुप्त पाप क्यों करती ? भ्रूणहत्याएँ क्यों करती ? क्या इनसे जिनमार्ग दूषित नहीं होता ? या ये भी जैनमार्ग के अङ्ग हैं ? चोर छिपाकर धन हरण करता है, यह भी मार्गप्रेम कहलाया । अनेक धर्मधुरन्धर लौंडेबाज़ी करते हैं, परस्त्री सेवन करते हैं, यह भी मार्गप्रेम का ही फल समझना चाहिये ! मतलब यह कि जो मनुष्य समाज को जितना अधिक धोखा देकर पाप कर लेता है वह उतना ही अधिक मार्गप्रेमी कहलाया ! वाहरे मार्ग ! और वाहरे मार्गप्रेमी !

व्यभिचारिणी स्त्री वेश्या क्यों नहीं बनजाती ? इसका उत्तर यह है कि वेश्याजीवन सिर्फ़ व्यभिचार से ही नहीं आजाता । उसके लिये अनेक कलाएँ चाहिये, जिनका कि दुरुपयोग किया जा सके अथवा जिन कलाओं के जाल में अनेक शिकार फँसाए जासकें । कुछ दुःसाहस भी चाहिये, कुछ निमित्त भी चाहिये, कुछ स्वावलम्बन और निर्भयता भी चाहिये । जिनमें ये बातें होती हैं वे वेश्याएँ बन ही जाती हैं । आज जो भारतवर्ष में लाखों वेश्यायें पाई जाती हैं

उनमें से आधी से अधिक वेश्याएँ ऐसी हैं जो एक समय कुल-वधुएँ थीं। वे समाज के धर्मढोंगी नरपिशाचों के धक्के खाकर वेश्याएँ बनी हैं। व्यभिचारिणी स्त्री पुनर्विवाह क्यों नहीं करती? इसका कारण यह है कि पुनर्विवाह तो वह तब करे जब उसमें ब्रह्मचर्याणुव्रत की भावना हो, जैनधर्म का सच्चा ज्ञान हो। जो स्त्री नये नये यार चाहती हो, उसे पुनर्विवाह कैसे अच्छा लग सकता है? अथवा वह तैयार भी हो तो जिन धर्मात्माओं ने उसे अपना शिकार बना रक्खा है वे कब उसका पिंड छोड़ेंगे? पुनर्विवाह से तो शिकार ही निकल जायगा। स्त्रियों की अज्ञानता और पुरुषों का स्वार्थ ही स्त्रियों को विधवाविवाह के पवित्र मार्ग से हटाकर व्यभिचार की तरफ़ ले जाता है।

छठा प्रश्न

कुशीला भ्रूणहत्याकारिणी को और कृतकारित अनुमोदना से उसके सहयोगियों को पाप-बन्ध होता है या नहीं? इसके उत्तरमें हमने कहा था कि होता है और जो लोग विधवाविवाह का विरोध करके ऐसी परिस्थिति पैदा करते हैं उन को भी पाप का बन्ध होता है। इसके उत्तर में आक्षेपकों ने जो यह लिखा है कि "विधवाविवाह व्यभिचार है, उसमें अकलंकदेव प्रणीत लक्षण नहीं जाता, आदि" इसका उत्तर प्रथम प्रश्न के उत्तर में अच्छी तरह दिया जा चुका है।

आक्षेप (क)—विधवाविवाह के विरोधी व्यभिचार को पाप कहते हैं तो पाप करने वाले चाहे स्त्रियाँ हों चाहे पुरुष, वह सब ही पापी हैं। (श्रीलाल)

समाधान—ऐसी हालत में जब विधवाविवाह पाप है तो विधुरविवाह भी होना चाहिये या दोनों ही न होना

चाहिये। क्योंकि जब पाप है तो 'सर्व ही पापी हैं'। व्यभिचार में तो आप सर्व ही पापी बतलावें और पुनर्विवाह में विधुरविवाह को धर्म बतलावें और विधवाविवाह को पाप, यह कहाँ का न्याय है ?

आक्षेप (च)—चोर चोरी करता है। गवर्नमेन्ट दण्ड देती है इसमें गवर्नमेन्ट का क्या अपराध ? (श्रीलाल)

समाधान—गवर्नमेन्ट ने अर्थोपार्जन का अधिकार नहीं छीना है। व्यापार से और नौकरी या भिक्षा से मनुष्य अपना पेट भर सकता है। गवर्नमेन्ट अगर अर्थोपार्जन के रास्ते रोकदे तो अवश्य ही उसे चोरी का पाप लगेगा। विधवाविवाह के विरोधी, विधवा को पति प्राप्त करने के मार्ग के विरोधी हैं, इसलिये उन्हें व्यभिचार या भ्रूणहत्या का पाप अवश्य लगता है। यदि स्थितिपालक लोग बतलावें कि अमुक उपाय से विधवा पति प्राप्त करले और वह उपाय सुसाध्य हो, फिर भी कोई व्यभिचार करे तो अवश्य स्थितिपालकों को वह पाप न लगेगा। परन्तु जब ये लोग किसी भी तरह से पति प्राप्त नहीं करने देते तो इससे सिद्ध है कि ये लोग भ्रूणहत्या और व्यभिचार के पोषक हैं। अगर कोई सरकार व्यापार न करने दे, नौकरी न करने दे, भीख न माँगने दे और फिर कहे कि—"तुम चोरी भी मत करो, उपवास करके ही जीवन निकाल दो" तो प्रत्येक आदमी कहेगा कि यह सरकार बदमाश है, इसकी मन्शा चोरी कराने की है। ऐसी ही बदमाश सरकार के समान आजकल की पचायतें तथा स्थितिपालक लोग हैं। इसमें इतनी बात और विचारना चाहिये कि अगर कोई सरकार चोरी की अपेक्षा व्यापारादि करने में ज़्यादः दण्ड दे तो उस सरकार की बदमाशी बिल्कुल नंगी हो जायगी। उसी प्रकार स्थितिपालकों की चालाकी भी नंगी हो जाती है,

क्योंकि वे लोग कहते हैं कि व्यभिचार भले ही करलो, परन्तु विधवाविवाह मत करो ! विधवाविवाह करने के पहिले पंडित उदयलाल जी से एक बुजुर्ग पण्डित जी ने कहा था कि-"तुम उसे स्त्री के रूप में यों ही रखलो, उसके साथ विवाह क्यों करते हो ?" आप के सहयोगी विद्यानन्द जी ने पाँचवें प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि-'यद्यपि कुशीला भ्रूणहत्या करती है किन्तु फिर भी जिनमार्ग से भय खाती है। उसमें स्वाभिमान लज्जा है। इसलिये वह विधवाविवाहित या वेश्या से अच्छी है"—क्या अब भी स्थितिपालक लोग व्यभिचारपोषकता का कलंक छिपा सकते हैं ? उस सरकार को क्या कहा जाय जो चोरों की प्रशंसा करती है और व्यापारियों की निन्दा ?

आक्षेप (ग)—यदि किसी को स्त्री नहीं मिलती तो क्या दया धर्म के नाम पर दूसरे दे दें ? विधवाविवाह के प्रचार हो जाने पर भी सभी पुरुषों को स्त्रियाँ न मिल जायँगी तो क्या स्त्री वाले लोग एक एक घण्टे को स्त्रियाँ दे देंगे।

समाधान—सुधारकों के मतानुसार स्त्रियों का देना लेना नहीं बन सकता, क्योंकि स्त्रियाँ सम्पत्ति नहीं हैं। हाँ, स्थितिपालक पण्डितों के मतानुसार घंटे दो घंटे या महीनों वर्षों के लिये स्त्री दी जासकती है, क्योंकि उनके मतानुसार वह देने लेने की वस्तु है, भोज्य है, सम्पत्ति है। पुरुष की इच्छा के अनुसार नाचने के सिवाय उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है। खैर, लोगों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे स्त्रियाँ दे दें, परन्तु उनका इतना कर्तव्य अवश्य है कि कोई पुरुष स्त्री प्राप्त करता हो या कोई स्त्री पति प्राप्त करती हो तो उनके मार्ग में रोड़े न अटकावें। यह कहना कि "विधवा अपने भाग्योदय से पतिहीन हुई, कोई क्या करे" मूर्खता और पक्षपात है। भाग्यो-

दय से तो विधुर भी बनता है और सभी विपत्तियाँ आती हैं। उनका इलाज किया जाता है। विधुर का दूसरा विवाह किया जाता है। इसी तरह विधवा का भी करना चाहिये। इसका उत्तर हम पहिले भी विस्तार से दे चुके हैं। "पुरुषत्वहीन पुरुषों की सिफारशें होंगी" इस आक्षेप के समाधान के लिये देखो "३ घ"।

आक्षेप (घ)—विधवाविवाह के विरोधियों को पापियों की कक्षा में किस आगम युक्तितर्क के आधार पर आपने घसीट लिया? (विद्यानन्द)

समाधान—इसका उत्तर ऊपर के (ख) नम्बर में है। उससे सिद्ध है कि कारित और अनुमोदन के सम्बन्ध से विधवाविवाह के विरोधी भ्रूणहत्यारे हैं।

आक्षेप (ङ)—पण्डित लोग आगम का अवर्णवाद नहीं करना चाहते। वे तो कहते हैं कि परलोक की भी सुध लिया करो।

समाधान—जिन पण्डितों के विषय में यह बात कही जारही है, वे बेचारे अज्ञानतमसावृत जीव आगम को समझते ही नहीं। वे तो रूढ़ियों को ही धर्म या आगम समझते हैं और रूढ़ियों के भंडाफोड को आगम का अवर्णवाद। परलोक की सुध दिलाने की बात तो विचित्र है। जो लोग खुद तो चार २ पाँच पाँच औरतें हजम कर जाते हैं और बालविधवाओं से कहते हैं कि परलोक की सुध लिया करो! उन धृष्टों से क्या कहा जाय? जो खुद तो ठूँस ठूँस कर खाते हों और दूसरों से कहते हों कि "भगवान् का नाम लो? इस शरीर के पोषने में क्या रक्खा है? यह तो पुद्गल है"—उनकी धृष्टता प्रदर्शनी की वस्तु है। वे इस धृष्टता से उपदेश नहीं देते, आदेश करते हैं, जबर्दस्ती दूसरों को भूखों रखते हैं। क्या यह परलोक की

सुध स्त्रियों के लिये ही है ? मर्दों के लिये नहीं ? फिर जैनधर्म ज़बर्दस्ती त्याग कराने की बात कहाँ कहता है ? उसका तो कहना है कि "ज्यों ज्यों उपशमन कषाया। त्यों त्यों तिन त्याग बनाया।'

आक्षेप (च)—पण्डितों के कठोरतापूर्ण शासन और पक्षपातपूर्ण उपदेशों के कारण स्त्रियाँ भ्रूणहत्या नहीं करतीं, परन्तु जो इनके उपदेश से निकल भागती हैं वे व्यभिचारिणियाँ ही यह पाप करती हैं।

समाधान—इस बात के निर्णय के लिये एक दृष्टान्त रखना चाहिये। चार विधवाएँ हैं। दो सुधारक और दो स्थितिपालक। एक सुधारक और एक स्थितिपालक विधवा तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पाल सकती है और बाक़ी की एक एक नहीं पाल सकतीं। पहिली से सुधारक कहते हैं कि 'बहिन! अगर तुम पवित्रता के साथ ब्रह्मचर्य पालन करने को तैयार हो तो एक ब्रह्मचारीके समान हम आपकी पूजा करते हैं और अगर तुम नहीं पाल सकती हो तो आज्ञा दो कि हम आपके विवाह का आयोजन कर दें।" वह बहिन कहती है कि अभी मैं ब्रह्मचर्य पालन कर सकती हूँ, इसलिए अपना पुनर्विवाह नहीं चाहती। जब मैं अपने मनको वश में न रख सकूँगी तो पुनर्विवाह का विचार प्रगट कर दूँगी। दूसरी बहिनसे यही बात कही जाती है तो वह विवाह के लिये तैयार हो जाती है और उसका विवाह कर दिया जाता है। इसके विवाह को पण्डित लोग ठीक नहीं समझते—सुधारक ठीक समझते हैं। परन्तु जब वह बहिन विवाह करा लेती है तो उसे संतान को छिपाने की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती जिससे वह भ्रूणहत्या करे। इस तरह सुधारक पक्ष में तो दोनों तरह की विधवाओं का पूर्ण निर्वाह है। अब स्थितिपालकों में देखिये! उनका कहना

है कि 'विधवा-विवाह घोर पाप है, क्योंकि स्त्रियाँ जूठी थाली के समान हैं। अब वे किसी के काम की नहीं'। दोनों बहिनों को यह अपमान चुपचाप सह लेना पड़ता है, जिस में पहिली बहिन तो ब्रह्मचर्य से जीवन बिताती है और दूसरी वैधव्यका ढोंग करती है। उसकी वासनाएँ प्रगट न हो जावें, इसलिये वह विधवा-विवाह वालोंको गालियाँ देती है। इसलिये पंडित लोग उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। परन्तु वह बेचारी अपनी वासनाओं को दमन नहीं कर पाती, इसलिये व्यभिचारके मार्ग में चली जाती है। फिर गर्भ रह जाता है। अब वह सोचती है कि विधवाविवाहवालों को मैंने आज तक गालियाँ दी हैं, इसलिये जब मेरे बच्चा पैदा होगा तो कोई क्या कहेगा? इसलिये वह गर्भ गिराने की चेष्टा करती है। गिर जाता है तो ठीक, नहीं गिरता है तो वह पैदा होते ही बच्चेको मारडालती है। वह बीच बीच में पुनर्विवाह का विचार करती है, लेकिन पण्डितों का यह वक्तव्य याद आजाता है कि "विधवाविवाह से तो जिनमार्ग दूषित होता है लेकिन व्यभिचार या भ्रूणहत्या से जिनमार्ग दूषित नहीं होता", इसलिये वह व्यभिचार और भ्रूणहत्या की तरफ झुक जाती है। सुधारक बहिन को तो ऐसा मौका ही नहीं है जिससे उसे अपना दाम्पत्य छिपाना पड़े और भ्रूणहत्या करना पड़े। उसके अगर सन्तान पैदा होगी तो वह हर्ष मनायगी जबकि स्थितिपालक बहिन हाय २ करेगी और उसकी हत्या करने की तरकीब सोचेगी। इससे पाठक समझ सकते हैं कि हत्यारा मार्ग कौन है और दया का मार्ग कौन है?

हम यहाँ एक ही बात रखते हैं कि कोई स्त्री विधवा-विवाह और गुप्त व्यभिचार में से किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहती है। सुधारक लोग विधवाविवाह की सलाह

देते हैं। अब पण्डितों से हम पूछते हैं कि उनकी क्या सलाह है? अगर वे गुप्त व्यभिचार की सलाह देते हैं, तो उसके भीतर भ्रूणहत्या की सलाह भी शामिल है क्योंकि भ्रूणहत्या न करने पर व्यभिचार गुप्त न रह सकेगा। इसलिये इस सलाह से पण्डितों को भ्रूणहत्या का दोषी होना ही पड़ेगा। अगर वे विधवाविवाह की सलाह देते हैं तो भ्रूणहत्या के पाप से बच सकते हैं। यदि वे इस पाप से बचना चाहते हैं तो उन्हें विधवाविवाह को व्यभिचार और भ्रूणहत्या से भी बुरा कहने की बात प्रायश्चित्त के साथ वापिस लेना चाहिये। ऐसी हालत में ये पण्डित सुधारकों से जुदे नहीं रह सकते। क्योंकि सुधारक लोग भी व्यभिचार आदि की अपेक्षा विधवाविवाह को अच्छा समझते हैं, पूर्णब्रह्मचर्य से विधवाविवाह को अच्छा नहीं समझते। इस वक्तव्य से सिद्ध हो जाता है कि पण्डित लोग भ्रूणहत्या आदि का प्रचार खुल्लमखुल्ला भले ही न करते हों परन्तु उनके सिद्धान्त ही ऐसे हैं कि जिससे भ्रूणहत्या का समर्थन तो होता ही है साथ ही उसको उत्तेजन भी मिलता है। और यह पाप विधवाविवाह करने वाली बहिनों को नहीं करना पड़ता, बल्कि उन्हें करना पड़ता है जो पण्डितों के कथनानुसार विधवाविवाह को गालियाँ देती हैं या उससे दूर रहती हैं।

आक्षेप (छ)—आप लिखते हैं कि स्थितिपालकों में सभी भ्रूणहत्या पसन्द नहीं करते परन्तु फीसदी नव्वे करते हैं। इस परस्पर विरोधी वाक्य का क्या मतलब?

समाधान—इस आक्षेप में आक्षेपक ने अपने भाषा-विज्ञान का ही नहीं, भाषाज्ञान का भी दिवाला निकाल दिया है। पूर्णांश के निषेध में अल्पांश की विधि भी इन्हें परस्पर विरुद्ध मालूम होती है। अगर कोई कहे कि मेरे पास पूरा रुपया तो नहीं है, चौदह आने हैं। तो भी आक्षेपक यही

कहेंगे कि जब तुमने रुपये का निषेध कर दिया तो चौदह आने की विधि क्यों करते हो ? क्योंकि चौदह आने ता रुपये के भीतर ही हैं। यह विरोध नहीं, विरोध प्रदर्शन की बीमारी है। 'एक के होने पर दो नहीं हैं' (एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति) के समान 'दो न होने पर एक है' की बात भी परस्पर विरुद्ध नहीं है। खेद है कि आक्षेपक को इतना सा भी भाषाज्ञान नहीं है।

आक्षेप (ज)—मछली की अपेक्षा बकरा ग्राह्य है या बकरा की अपेक्षा मछली ? सिद्धान्तदृष्टि से दोनों ही नहीं।

(विद्यानन्द)

समाधान—विधवाविवाह और भ्रूणहत्या इन दोनों में समानता नहीं है किन्तु तर-तमता है। और ऐसी तरतमता है जैसी कि विधुरविवाह और नरहत्या में है। इसलिये मछली और बकरे का दृष्टान्त विषम है। जहाँ तरतमता नहीं वहाँ चुनाव नहीं हो सकता। त्रसहिंसा और स्थावर हिंसा, अणुव्रत और महाव्रत के समान व्यभिचार और विधवाविवाह में चुनाव हो सकता है जैसा कि विधुरविवाह और व्यभिचार में होता है।

आक्षेप (झ)—चाणक्य ने कहा है कि राजा और पण्डित एक ही बार बोलते हैं कन्या एक ही बार दी जाती है। (विद्यानन्द)

समाधान—हमने विधवाविवाह को न्यायोचित कहा है। उसका विरोध करने के लिये ऊपर का नीतिवाक्य उद्धृत किया गया है। आक्षेपक ने भूल से न्याय और नीति का एक ही अर्थ समझ लिया है। असल में नीति शब्द के, न्याय से अतिरिक्त तीन अर्थ हैं। (१) क़ानून, (२) चाल, ढग, पॉलिसी, (३) रीति रिवाज। ये तीनों ही बातें न्याय के विरुद्ध भी हो सकती हैं। दक्षिण के एक राज्य में ऐसा क़ानून

है कि लड़का बाप की सम्पत्ति का मालिक नहीं होता। यह क़ानून है परन्तु न्याय नहीं। प्रजा में फूट डालकर मनमाना शासन करने की पॉलिसी, नीति है, परन्तु यह न्याय नहीं है। इसी तरह "मिलजुल कर पञ्चों में रहिये, प्राण जाँय साँची नहीं कहिये" की नीति है परन्तु यह न्याय नहीं है। योरोप में ड्यूअल का रिवाज था और कहीं कहीं अब भी है, परन्तु यह न्याय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें सबल का ही न्याय कहलाता है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह भी एक नीति है परन्तु न्याय नहीं। इसलिये नीतिवाक्य का उद्धरण देकर न्यायोचितता का विरोध करना व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि चाणक्य ने खुद स्त्रियों के पुनर्विवाह के कानून बनाये हैं जिनका उल्लेख २७ वें प्रश्न में किया गया था। इस लेख में भी आगे किया जायगा। यहाँ सिर्फ़ एक वाक्य उद्धृत किया जाता है—'कुटुम्बर्द्धिलोपे वा सुखावस्थैर्विमुक्ता यथेष्टं विन्देत जीवितार्थम्'। अर्थात् कुटुम्ब की सम्पत्ति का नाश होने पर अथवा समृद्ध बन्धुबांधवों से छोड़े जाने पर कोई स्त्री, जीवननिर्वाह के लिये अपनी इच्छा के अनुसार अन्य विवाह कर सकती है। चाणक्यनीति का उल्लेख करने वाले ज़रा इस वाक्य पर भी विचार करे। साथ ही यह भी ख्याल में रक्खे कि ऐसे ऐसे दर्जनों वाक्य चाणक्य ने लिखे हैं। जब हम दोनों वाक्यों का समन्वय करते हैं तब चाणक्यनीति के श्लोक से पुनर्विवाह का ज़रा भी विरोध नहीं होता। उस श्लोक से इतना ही मालूम होता है कि बाप को चाहिये कि वह अपनी पुत्री एक ही बार देवे। विधवा होने पर या कुटुम्बियों के नाश होने पर देने की ज़रूरत नहीं है। उस समय तक उसे इतना अनुभव हो जाता है कि वह स्वयं अपना पुनर्विवाह कर सकती है। इसलिये पिता को

फिर कौटुम्बिक अधिकार न चलाना चाहिये। अगर चाणक्य-नीति के उस वाक्य का यह अर्थ न होता तो चाणक्य के अन्य वाक्यों से समन्वय ही न हो पाता।

आक्षेप (ञ)—आपने कहा कि 'अगर हम खूब स्वादिष्ट भोजन करें और दूसरों को एक टुकड़ा भी न खाने दें तो उन्हें स्वाद के लिये नहीं तो क्षुधाशांति के लिये चोरी करनी ही पड़ेगी। और इसका पाप हमें भी लगेगा। इसी तरह भ्रूणहत्या का पाप विधवाविवाह के विरोधियों को लगता है" परन्तु कौन किस को क्या नहीं खाने देता? कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि 'उपकार तथा अपकार शुभाशुभ कर्म ही करे हैं'। (विद्यानन्द)

समाधान—उपकार अपकार तो कर्म करते हैं परन्तु कर्मों का उदय नोकर्मों के बिना नहीं आता। बाह्यनिमित्तों को नोकर्म कहते हैं (देखो गोम्मट सार कर्मकाण्ड)। अशुभ कर्मों के नोकर्म बनना पाप है। पशु तो अपने कर्मोदय से मारा जाता है परन्तु कर्मोदय के नोकर्म कसाई को पाप का बन्ध होता है या नहीं? विधवा को पापकर्म के उदय से पति नहीं मिलता, परन्तु जो लोग पति नहीं मिलने देते वे तो उसी कसाई के समान उस पाप कर्म के नोकर्म हैं। यदि कार्तिकेयानुप्रेक्षा का ऐसा ही उपयोग किया जाय तो पण्डित लोग गुट्ट बाँध कर डाका डालना, स्त्रियों के साथ बलात्कार करना आदि का श्रीगणेश करदें और जब कोई पूछे कि ऐसा क्यों करते हो? तो कह दें—"हमने क्या किया? उपकार तथा अपकार तो शुभाशुभ कर्म ही करे है'। इस तरह से राजदण्ड आदि की भी कोई जरूरत नहीं रहेगी क्योंकि "उपकार अपकार शुभाशुभ कर्म ही करे हैं"। खैर साहिब! ऐसा ही सही। तब तो जिस विधवा का कर्मोदय आयगा उसका पुनर्विवाह

हो जायगा। न आयगा न हो जायगा। इसमें उस दम्पति को तथा सुधारकों को कोसने की क्या जरूरत? क्योंकि यह सब तो "शुभाशुभ कर्म ही करे हैं"। वाह रे! 'करे हैं'।

आक्षेप (ट)—कर्म की विचित्रता ही तो वैराग्य का कारण है। उन लुधातों पर तरस आता है इसलिये हम उन्हें शान्ति से इस कर्मकृत विधिविडम्बना को सहलेने का उपदेश देते हैं।" (विद्यानन्द)

समाधान—जी हाँ, और जब यह विधिविडम्बना उपदेशदाताओं के सिर पर आती है तब वे स्वयं कामदेव के आगे नंगे नाचते है, मरघट में ही नये विवाह की बातचीत करते है! यह विधिविडम्बना सिर्फ़ स्त्रियों को सहना चाहिये। न सही जाय तो गुप्त पाप करके ऊपर से सहने का ढोंग करना चाहिये। परन्तु पुरुषों को इसके सहने की जरूरत नहीं। क्योंकि धर्म पुरुषों के लिये नहीं है। वे तो पाप से भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अथवा यहाँ की आदत के अनुसार मुक्ति का झोंटा पकड़ कर उसे वश में कर सकते हैं। उन्हें पाप-पुण्य के विचार की जरूरत क्या है?

वैराग्य के लिए कर्मविचित्रता की ज़रूरत है। इसलिये आवश्यक है कि सैकड़ों मनुष्य भूखों मारे जाँय, गरम कड़ाहों में पकाए जाँय, बीमारों की चिकित्सा बन्द कर दी जाय। इस से असुरकुमारों के अवतार पण्डितों को और पशुओं को वैराग्य पैदा होगा। अच्छा हो, ये लोग एक क़साईख़ाना खोल दें जिस में क़साई का काम ये स्वयं करें। जब इनकी छुरी खाकर बेचारे दीन पशु चिल्लायेंगे और तड़पेंगे, तब अवश्य ही उनके खून में से वैराग्य का सत्त्व खींचा जासकेगा। अगर किसी जगह विधवाओं की कमी हो तो पुरुषों की हत्या करके विधवाएँ पैदा की जाँय। क्योंकि उनके करुण क्रन्दन और

आँसुओं में से वैराग्य का दोहन बहुत अच्छा होता है। यह वैराग्य न मालूम कैसा अड़ियल टट्टू है कि आता ही नहीं है! इधर जैनसमाज में मुफ़्तखोरों की इतनी कमी है और जैन समाज के पास इतना धन है कि सूझता ही नहीं कि किसे खिलायें या कैसे खर्च करें!

सातवाँ प्रश्न

इसमें पूछा गया था कि आजकल कितनी विधवाएं पूर्ण पवित्रता के साथ वैधव्यव्रत पालन कर सकती हैं। इसका उत्तर हमने दिया था कि वृद्धविधवाओं को छोड़कर बाक़ी विधवाओं में से फ़ी सदी पाँच। यहाँ पूर्णपवित्रता के साथ वैधव्य पालने की बात है। रो धोकर वैराग्य पालन करने वाली तो आधी या आधी से भी कुछ ज़्यादा निकल सकती है। आक्षेपकों ने उत्तर का मतलब न समझकर बकवाद शुरु कर दिया। श्रीलाल जी हमसे पूछते हैं कि:—

आक्षेपक—आप को व्यभिचारिणियों का ज्ञान कहाँ से हुआ? क्या व्यभिचारियों का कोई अड्डा है जो ख़बर देता है या गवर्नमेण्ट रिपोर्ट निकलती है?

समाधान—मालूम होता है आक्षेपक भूगर्भ में से बिलकुल ताज़े निकले हैं। अन्यथा आप किसी भी शहर के किसी भी मोहल्ले में चले जाइये और जरा भी गौर से जाँच कीजिये, आपकी बुद्धि आपको रिपोर्ट देदेगी। इस रिपोर्ट की जाँच का हमने एक अच्छा तरीक़ा बतलाया था—विधुरों की जाँच। स्त्रियों में काम की अधिकता बतलाई जाती है। अगर हम समानता ही मानलें तो विधुरों की कमजोरियों से हम विधवाओं की कमज़ोरियों का ठीक अनुमान कर सकते हैं। वृद्ध विधुरों को छोड़कर ऐसे कितने विधुर हैं जो पुनर्विवाह की

कोशिश न करते हों? किसी प्रान्त में या शहर में जाँच करली जाय तो मालूम होगा कि चालीस पैंतालिस वर्ष से कम उमर में विधुर होकर अपने पुनर्विवाह की कोशिश न करने वाले विधुर फी सदी पाँच से भी कम हैं। जहाँ पर विधुरविवाह के समान विधवाविवाह का भी पूर्ण प्रचार है वहाँ की रिपोर्ट से भी इस बातका समर्थन होगा। क्या ऐसी स्पष्ट जाँच को धृष्टता कहते हैं?

इस वक्तव्य से विद्यानन्दजी के आक्षेपों का भी उत्तर हो जाता है। हाँ! उनके बहुत से आक्षेप प्रकरण के बाहर होगये हैं, परन्तु उनका भी उत्तर दिया जाता है जिससे कहने को भी गुंजाइश न रह जावे।

आक्षेप (ख)—क्या अभव्य में मोक्ष जाने की ताकत नहीं है? तो केवल ज्ञानावरण का सद्भाव कैसे घटित होगा? राजवार्तिक देखिये! (विद्यानन्द)

समाधान—आक्षेपक ने राजवार्तिक गौर से नहीं देखा। राजवार्तिक में लिखा है कि द्रव्यार्थिकनय से तो अभव्य में केवलज्ञानादि की शक्ति है, परन्तु पर्यायार्थिकनय से नहीं है। इसलिये द्रव्यार्थिकनय से तो स्त्रियों में वैधव्य पालन की तो क्या, केवलज्ञानादिक की भी शक्ति कहलायी। ऐसी हालत में तो प्रश्न की कोई ज़रूरत ही नहीं रहती। और जब प्रश्न किया गया है तो सिद्ध है कि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा है, और उस नय से अभव्य में मुक्तियोग्यता नहीं है। जरा राजवार्तिक के इस वाक्य पर भी विचार कीजिये—"सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यः तद्विपरीतोऽभव्यः" अर्थात् जिसमें सम्यक्त्वादि को प्रगट करने की योग्यता हो उसे भव्य कहते हैं; उससे विपरीत को अभव्य। मतलब यह है कि प्रकट करने की शक्ति अशक्ति की अपेक्षा से भव्य अभ-

व्य का भेद है। हमने मोक्ष जाने तक की बात कही है, शक्ति रूप में मौजूद रहने की नहीं। खैर, यहाँ इस चर्चा से कुछ मतलब नहीं है। अगर आक्षेपक को इस विषय की विशेषज्ञता का अभिमान है तो वे स्वतन्त्र चर्चा करें। हम उनका समाधान कर देंगे।

आक्षेप (ग)—आजकल भी स्त्रीजाति को पञ्चम गुण स्थान हो सकता है और पुरुषों को सप्तम गुणस्थान। इसलिये अवस्था का बहाना बनाना अधमता से भी अधम है।

समाधान—गुणस्थानों की चर्चा उठाकर आक्षेपक ने अपने पैरों पर आप ही कुल्हाडी मारी है। क्या आक्षेपक ने विचार किया है कि मनुष्यों में पञ्चम गुणस्थान के मनुष्य कितने है? कुल मनुष्य २९ अङ्क प्रमाण है और पञ्चम गुणस्थानवाले मनुष्यों की संख्या ९ अङ्कप्रमाण। बीस अङ्क ज़्यादा है। १९ अङ्क के दस सङ्ख होते हैं बीस अङ्क के १०० सङ्ख हुए। अर्थात् पाँचवें गुणस्थान के मनुष्यों से कुल मनुष्य सौ सङ्ख गुणे हैं। सौ सङ्ख मनुष्यों में एक मनुष्य पञ्चम गुणस्थानवर्ती है। इस चर्चा से तो सौ में पाँच तो क्या एक या आधा भी नहीं बैठता! फिर समझ में नहीं आता कि पाँचवें गुणस्थान में जीव होने से दुराचारियों का निषेध कैसे हो गया? अनन्त सिद्धों के होने पर भी उनसे अनन्तगुणे ससारी है। असंख्य सम्यग्दृष्टियों के होने पर भी अनन्तानन्त मिथ्यादृष्टि है। इसलिये पाँच सदाचारिणी स्त्रियों के होने से क्या ९५ दुराचारिणी नहीं हो सकतीं? फिर हमने तो वृद्धाओं को अलग रक्खा है और युवती विधवाओं में भी ९५ को दुराचारिणी नहीं, किन्तु पूर्ण वैधव्य न पालने वाली बतलाया है।

सीता, राजुल आदि सतियों के दृष्टान्त से आक्षेपक की नहीं, किन्तु हमारी बात सिद्ध होती है। सतीत्व के गीत गाने

वाले बतलावें कि आज कितनी स्त्रियाँ अग्नि में बैठकर अपने सतीत्व की परीक्षा दे सकती हैं? सीता और राजुल आज तो असाधारण हैं ही, परन्तु उस जमाने में भी असाधारण थीं।

आक्षेपकने ज्योतिःप्रसाद जी आदि का उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि विधुर भी ब्रह्मचर्य से रहते हैं। इस सिद्ध करने की धुन में आप अपने असली पक्ष को खो बैठे। अगर ज्योतिःप्रसादजी आदि विधुरों के रहने पर भी फी सदी ६५ विधुर अपने पुनर्विवाह की कोशिश करते हैं अर्थात् निर्दोष वैधुर्य का पालन नहीं कर पाते तो शुद्ध वैधव्य पालन करने वाली अनेक विधवाओं के रहने पर भी फी सदी ६५ विधवाएँ शुद्ध वैधव्य पालन नहीं कर पातीं।

आक्षेप (घ)—विधुरों के समान विधवाओं के विवाह की आज्ञा कौन दे? क्या हम छद्मस्थ लोग? शास्त्रों में बहुविवाह का उल्लेख पाया जाता है। शास्त्रकर्ता पुरुष होने से पक्षपाती नहीं कहे जासकते, क्योंकि न्याय और सिद्धान्त की रचनाएँ गुरुपरम्परा से हैं। यदि उन्हें पुरुषत्व का अभिमान होता तो शूद्रों को पूजनप्रक्षाल, महाव्रत ग्रहण आदि से वंचित क्यों रखते? यदि ब्राह्मणत्वका पक्षपात बताया जाय तो उनने हीनाचारी ब्राह्मण को शूद्रों से भी बुरा क्यों कहा? इसलिये पक्षपात का इल्जाम लगाना पशुता और दमनीय अविचारता है।

(विद्यानन्द)

समाधान—हमारे उत्तरमें इस विषयका एक अक्षर भी नहीं है और न घुमा फिराकर हमने किसी पर पक्षपात का इल्जाम लगाया है। यह हरिण को सोते शेर को जगाना है।

प्रारम्भ में हम यह कह देना चाहते हैं कि आक्षेपकने जैन शास्त्रों की जैसी आज्ञाएँ समझी हैं वैसी नहीं हैं। जैन शास्त्र तो पूर्ण ब्रह्मचर्य की आज्ञा देते हैं, लेकिन जो लोग पूर्ण

ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते उनके लिये कुछ नीची श्रेणी का (विवाह आदि का) उपदेश देते हैं। इन नीची श्रेणियों में किस जमाने के अधिकांश मनुष्य किस श्रेणी का किस रूप में पालन कर सकते हैं इस बात का भी विचार रक्खा जाता है। भारतवर्ष, तिब्बत और वर्तमान योरोप की परिस्थितियोंमें बड़ा फर्क है। भारतवर्ष में एक पति, अनेक पत्नियाँ रख सकता है। तिब्बत में एक पत्नी अनेक पति रख सकती है। योरोप में पति, अनेक पत्नियाँ नहीं रख सकता, न पत्नी अनेक पति रख सकती है। योरोप में अगर एक पत्नी के रहते हुए कोई दूसरी पत्नी से विवाह करले तो वह जेल में भेज दिया जायगा। क्या ऐसी परिस्थिति में आचार्य, योरोपियन पुरुषों को बहुविवाहकी आज्ञा देंगे? जैनाचार्यों की दृष्टिमें भी वहाँ का बहुविवाह अनाचार कहलायगा। परन्तु भारत के लिये पुरुषों का बहुविवाह अतिचार ही होगा। तिब्बत के लिये स्त्रियों का बहुविवाह अतिचार होगा। तात्पर्य यह है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से उतर कर समाज का नैतिक माध्यम (Medium) जिस श्रेणी का रहता है उसी का आचार्य ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते हैं। यही कारण है कि सोमदेव और आशाधरजी ने वेश्यासेवी को भी अणुव्रती मान लिया है। इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं है क्योंकि यह तो जुदे जुदे समय और जुदे स्थानों के समाज का माध्यम है। इस विषय में इतनी बात ध्यान में रखने की है कि माध्यम चाहे जो कुछ रहा हो परन्तु उनका लक्ष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य रहा है। इसलिये बहुपत्नीक मनुष्य को उनने अतिचारी कहा है। देखिये सागारधर्मामृत टीका "यदा तु स्वदारसन्तुष्टो विशिष्टसन्तोषाभावात् अन्यत्कलत्रं परिणयति तदाऽप्यस्यायमतिचारः स्यात्" अर्थात् विशिष्ट सन्तोष न होने के कारण जो दूसरी स्त्री के साथ विवाह करता है उसको ब्रह्मचर्याणुव्रत में दोष लगता है।

असल बात तो यह है कि ब्रह्मचर्याणुव्रत भी एक तरह का परिग्रहपरिमाणव्रत है। परिग्रह परिमाण में सम्पत्ति तथा अन्य भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा की जाती है। ब्रह्मचर्य में काम सेवन सम्बन्धी उपभोगसामग्री की मर्यादा की जाती है। परन्तु जिस प्रकार अहिंसा के भीतर चारों व्रत शामिल होने पर भी स्पष्टता के लिये उनका अलग व्याख्यान किया जाता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रत में परिग्रह परिमाण व्रत से अलग व्याख्यान किया गया है। परिग्रह परिमाणव्रतमें परिग्रह की मर्यादा की जाती है, परन्तु वह परिग्रह कितना होना चाहिये यह बात प्रत्येक व्यक्ति के द्रव्य क्षेत्रकालभाव पर निर्भर है। मर्यादा बाँध लेने पर सम्राट् भी अपरिग्रहाणुव्रती है और मर्यादाशून्य साधारण भिखमंगा भी पूर्ण परिग्रही है। ब्रह्मचर्याणुव्रत के लिये आचार्य ने कह दिया कि अपनी कामवासना को सीमित करो और विवाह को कामवासना की सीमा नियत कर दिया। जो वैवाहिक बन्धन के भीतर रहकर कामसेवन करता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रती है। यह बन्धन कितना ढीला या गाढ़ा हो यह सामाजिक परिस्थिति और वैयक्तिक साधनों के ऊपर निर्भर है। यहाँ पर एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के साथ विवाह हो सकता है और विवाह ही मर्यादा है इसलिये वह ब्रह्मचर्याणुव्रती कहलाया। तिब्बत में एक स्त्री अनेक पुरुषों के साथ एक साथ ही विवाह कर सकती है और विवाह ही मर्यादा है इसलिये वहाँ पर अनेक पति वाली स्त्री भी अणुब्रह्मचारिणी है। अणुब्रह्मचर्य का भंग वहीं होगा जहाँ अविवाहित के साथ कामादि सेवन किया जायगा। इससे साफ़ मालूम होता है कि अणुव्रत के लिये आचार्य एक अनेक का बन्धन नहीं डालते, वे विवाह का बन्धन डालते हैं। सामाजिक परिस्थिति और साधन सामग्री से जो जितने विवाह कर सकें

उसमें वही अणुव्रत की सीमा है। एक पति या अनेक पति का प्रश्न सामाजिक या राजकीय परिस्थिति का प्रश्न है न कि धार्मिक प्रश्न।

ऊपर, तिब्बत का उदाहरण देकर बहुपतित्व का उल्लेख कर चुका हूँ। और भी अनेक छोटी छोटी जातियों में यह रिवाज है। अगर ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो एक दिन संसार के अधिकांश देशों में बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित थी। बात यह है कि माता का महत्व पिता से अधिक है। माता को ही लेकर कुटुम्ब की रचना होती है। इसलिये एक समय मातृवंश अर्थात् माता के ही शासन की विधि प्रचलित थी। उस समय बहुपतिविवाह अर्थात् एक स्त्री के कई पति होने की प्रथा भी शुरु हो गई। एशिया की कुछ प्राचीन जातियों में अब भी इस प्रथा के चिन्ह पाये जाते हैं। कई पतियों में से जो सबसे बलवान और रक्षा करने में समर्थ होता था धीरे धीरे उसका आदर अधिक होने लगा अर्थात् पट्टरानी के समान पट्टपति का रिवाज चला। जो बलवान और पत्नी का ज़्यादा प्यारा होता था वही अच्छी तरह घरमें रह पाता था। यही रिवाज अङ्गरेज़ी के हसबेंड Husband शब्द का मूल है। इस शब्द का असली रूप है Hus buandı अर्थात् घर में रहने वाला। सब पतियों में जो पत्नी के साथ घर पर रहता था वही धीरे धीरे गृहपति या हसबेंड कहलाने लगा, और शक्ति होने से धीरे धीरे घर का पूरा आधिपत्य उस के हाथ में आगया। घर की मालिकी के बाद जब किसी पुरुष को जाति की सरदारी मिली तो पुरुषों का शासन शुरू हुआ, और बहुपतित्व के स्थान पर बहुपत्नीत्व की प्रथा चल पडी। हिन्दू शास्त्रों में द्रौपदी को पाँच पति वाली कहा है और उसे महासती भी माना है। भले ही यह कथा कल्पित

हो परन्तु भारतवर्ष में भी एक समय बहुपतित्व के साथ सतीत्व का निर्वाह होता था, इस बात की सूचक अवश्य है। जैनसमाज में थी कि नहीं, यह जुदा प्रश्न है परन्तु भारतवर्ष में अवश्य थी।

मतलब यह है कि बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व की प्रथा सामयिक है। धर्म का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म तो अणुव्रती का अविवाहित के साथ संभोग करने की मनाई करता है। विवाहित पुरुष या स्त्री, एक हो या अनेक, धर्म की दृष्टि में अणुव्रतनाशक नहीं है। हाँ, धर्म तो मनुष्य को पूर्णब्रह्मचर्य की तरफ झुकाता है इसलिये बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व के स्थान में एक पतित्व, और एक पत्नीत्व को अच्छा समझता है और जिसका प्रचार अधिक सम्भव हो उसी पर अधिक जोर देता है। इतना ही नहीं, एक पत्नीत्व के बाद भी वह संभोग की रोकथाम करता है। जैसे पर्व के दिन में विषय सेवन मत करो! ऋतुस्नान दिवस के सिवाय अन्य दिवसों में मत करो! आदि।

मुनियों के लिये जैसा ब्रह्मचर्य है आर्यिकाओं के लिये भी वैसा है। ब्रह्मचारियों के लिये जैसा है, ब्रह्मचारिणियों के लिये भी वैसा है। बाक़ी पुरुषों के लिये जैसा है, बाक़ी स्त्रियों के लिये भी वैसा है। सामयिक परिस्थिति के अनुसार पुरुषों और स्त्रियों ने जिस प्रकार पालन किया आचार्यों ने उसी प्रकार उसका उल्लेख किया। आचार्य तो बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व दोनों नहीं चाहते थे। वे तो पूर्णब्रह्मचर्य के पोषक थे। अगर वह न हो सके तो एकपतित्व और एकपत्नीत्व चाहते थे। ज़बरदस्ती से हो या और किसी तरह से हो, स्त्रियों में बहुपतित्व की प्रथा जब नहीं थी तब वे उसका उल्लेख करके पीछे खिसकने का मार्ग क्यों बतलाते? पिछले

जमाने में जब विधवाविवाह की प्रथा न रही या कम हो गई तब इस प्रथा का उल्लेख भी न किया गया। यदि इसी तरह बहुपत्नीत्व की प्रथा नष्ट हो जाती तो आचार्य इस प्रथा का भी उल्लेख न करते। माध्यम जितना ऊँचा होजाय उतना ही अच्छा है। अगर परिस्थितियों ने स्त्रियों का ब्रह्मचर्यविषयक माध्यम पुरुषों से ऊँचा कर दिया था तो इससे स्त्रियों के अधिकार नहीं छिन जाते। कम से कम धर्म तो उनके अधिकारों में बाधा नहीं डालता। पुरुष समाज का माध्यम तो स्त्री समाज से नीचा है। इसलिये पुरुषों को तो स्त्रियों से कुछ कहने का अधिकार ही नहीं है। अब यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि विधवाविवाह का प्रचार करके स्त्रियों का वर्तमान माध्यम क्यों गिराया जाता है? इसके कारण निम्नलिखित हैं।

(१) यह माध्यम स्त्रियों के ऊपर जबरदस्ती लादा गया है, और लादने वाले पुरुष हैं जो कि इस दृष्टि से बहुत गिरे हुए हैं। इसलिये यह त्याग का परिचायक नहीं किन्तु दासता का परिचायक है। इसलिये जब तक पुरुष समाज इस माध्यम पर चलने को तैयार नहीं है तब तक स्त्रियों से जबर्दस्ती इस माध्यम का पलवाना अन्याय है, और अन्याय का नाश करना धर्म है।

(२) माध्यम वही रखना चाहिये जिसका पालन सहूलियत के साथ हो सके। प्रतिदिन होने वाली भ्रूणहत्यायें और प्रति समय होने वाले गुप्त व्यभिचार आदि से पता लगता है कि स्त्रियाँ इस माध्यम में नहीं रह सकतीं।

(३) आर्थिक कष्ट, घोर अपमान, तथा अन्य अनेक आपत्तियों से वैधव्य जीवन में धर्मध्यान के बदले आर्तध्यान की ही प्रचुरता है।

(४) स्त्री और पुरुष के माध्यम में इतनी विषमता है

कि पुरुषसमाज का और स्त्रीसमाज का अधःपतन हो रहा है। इस समय दोनों का माध्यम समान होना चाहिये। इसके लिये पुरुषों को बहुपत्नीत्व की प्रथा का त्याग करने की और स्त्रियों का विधवाविवाह की जरूरत है।

(५) जनसंख्या की दृष्टि से समाज का माध्यम हानिकारी है। भारतवर्ष में स्त्रियों की संख्या कम है, पुरुषों में बहुविवाह होता है, फिर फीसदी १७ स्त्रियाँ असमय में विधवा हो जाती हैं, इसलिये अनेक पुरुषों को, बिना स्त्री के रहना पड़ता है। उनमें से अधिकांश कुमार्गगामी हो जाते हैं। अगर विधवाविवाह का प्रचार हो तो यह कमी पूरी हो सकती है तथा अनेक कुटुम्बों का सर्वनाश होने से भी बचाव हो सकता है।

(६) बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व की प्रथा, सीमित होने पर इतनी विस्तृत है कि उसमें विषय वासनाओं का ताण्डव हो सकता है। सामूहिक रूपमें इसका पालन ही नहीं होसकता इसलिये ये दोनों प्रथाएँ त्याज्य हैं। किन्तु अपतित्व और अपत्नीत्व की प्रथा इतनी संकुचित है कि मनुष्य उसमें पैर भी नहीं पसार सकता। और सामूहिक रूपमें इसका पालन भी नहीं होसकता। इसलिये कुमार और कुमारियों का विवाह कर दिया जाता है। अपतित्व की प्रथा से जिस प्रकार कुमारियों की हानि हो सकती है वही हानि विधवाओं की हो रही है इसलिये उनके लिये भी कुमारियों के समान एकपतित्व प्रथा की आवश्यकता है।

जब कि बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व तक ब्रह्मचर्याणुव्रत की सीमा है तब एक पतित्वरूप विधवाविवाह की प्रथा, न तो अणुव्रतकी विरोधिनी होसकती है और न आचार्यों की आज्ञाओंकी आज्ञाके प्रतिकूल हो सकती है। यहाँ पाठक विधवा-

विवाह को बहुपतित्व की प्रथा न समझें । एक साथ अनेक पतियों का रखना बहुपतित्व है । एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरा पति रखना एक पतित्व ही है क्योंकि इसमें एक साथ बहुपति नहीं होते।

पाठक इस लम्बे विवेचन से ऊब तो गये होंगे, परन्तु इससे "विधवाविवाह की आज्ञा कौन दे ?", "पुराणों में बहु-विवाह का उल्लेख पाया जाता है" आदि आक्षेपों का पूरा समाधान हो जाता है। शास्त्रोंके कथन की अनेकान्तता मालूम हो जाती है। साथ ही ब्रह्मचर्याणुव्रत का रहस्य मालूम हो जाता है । आक्षेपकने पक्षपात के इल्ज़ाम को पशुता और दमनीय अविचारता लिखा है । खैर, जैनधर्म तो इतना उदार है कि उसपर विना इल्ज़ाम लगाये विधवाविवाह का समर्थन हो जाता है । परन्तु जो लोग जैनशास्त्रों को विधवाविवाह का विरोधी समझते है या जैनशास्त्रों के नाम पर बने हुए, जैन धर्म के विरुद्ध कुछ ग्रन्थों को जैनशास्त्र समझते है उनसे हम दो दो बातें कर लेना चाहते हैं। ये दो बातें हम अपनी तरफ से नहीं, किन्तु उनके वकील की हैसियत से कहते है जिनको आक्षेपकने पशु बतलाया है।

आक्षेपक का कहना है कि "न्याय और सिद्धान्तकी रचनाएँ गुरु-परम्परा से है', परन्तु उनमें स्वकल्पित विचारों का सम्मिश्रण नहीं हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। माणिक्यनंदि आदि आचार्योंने प्रमाण को अपूर्वार्थग्राही माना है और धारा-वाहिक ज्ञानको अप्रमाण। परन्तु आचार्य विद्यानन्दीने गृहीत-मगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति, तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्-कहकर धारावाहिक को अप्रमाण नहीं माना है । ऐसा ही अकलङ्कदेवने लिखा है (देखो श्लोकवार्तिक, लघीयस्त्रय, या न्यायप्रदीप) धर्मशास्त्रमें तो और भी ज़्यादा

अन्धेर है । रविषेण कहते हैं कि सीता जनक की पुत्री थी । रामको वनवास मिला था । वे अयोध्या में रहते थे । गुणभद्र कहते हैं सीता रावण की पुत्री थी । राम को वनवास नहीं मिला था । वे बनारस में रहते थे । दोनों कथानकों के स्थूल सूक्ष्म अंशोंमें पूर्व पश्चिम का सा फरक है । क्या यह गुरुपरम्परा का फल है ? कोई लेखक कहता है कि मैं भगवान महावीर का ही उपदेश कहता हूँ तो क्या इसीसे गुरुपरम्परा सिद्ध होगई ? यदि गुरुपरम्परा सुरक्षित रही तो कथानकों में इतना भेद क्यों ? श्रावकों के मूलगुण कई तरह के क्यों ? क्या इस से यह नहीं मालूम होता है कि अनेक लेखकोंने द्रव्य क्षेत्र कालादि की दृष्टिसे अनेक तरह का कथन किया है । अनेकों ने जैनधर्म विरुद्ध अनेक लोकाचारों को जिनवाणी के नाम से लिख मारा है, जैसे सोमसेन आदि भट्टारकोंने योनिपूजा आदि की घृणित बातें लिखी है । इसीलिये तो मोक्षमार्गप्रकाश में लिखा है कि "कोऊ सत्यार्थ पदनिके समूहरूप जैन शास्त्रनि विषै असत्यार्थपद मिलावै परन्तु जिन शास्त्र के पदनिविषै तो कषाय मिटावने का वा लौकिक कार्य घटावने का प्रयोजन है । और उस पापी ने जो असत्यार्थ पद मिलाये हैं तिनि विषै कषाय पोषने का वा लौकिक कार्य साधने का प्रयोजन है । ऐसे प्रयोजन मिलता नाहीं, तातैं परीक्षा करि ज्ञानी ठिगावते भी नाहीं, कोई मूर्ख होय सोही जैन शास्त्र नाम करि ठिगावैं है ।" कहिये ! अगर गुरु परम्परा में ऐसा कचरा या विष न मिल गया होता तो क्यों लिखा जाता कि मूर्ख ही जैन शास्त्र के नाम से ठगाये जाते हैं । तात्पर्य यह है कि गुरु परम्परा के नाम पर बैठे रहना मूर्खता है । जैनी को तो कोई शास्त्र तभी प्रमाण मानना चाहिये जब वह जैन सिद्धान्त से मिलान खाता है । अगर वह मिलान न खावे तो अन-

केवली के नाम से ही क्यों न लिखा गया हो, उसे कचरे में डाल देना चाहिये। धूर्तों की धूर्तता का छिपाना घोर मिथ्यात्व का प्रचार करना है। जैन सिद्धान्तों के विरुद्ध जाने पर भी ऐसे शास्त्रों का मानना घोर मिथ्यात्वी बनजाना है। गुरु परम्परा है कहाँ? श्वेताम्बर कहते हैं कि हमारे सूत्र भगवान महावीर के कहे हुए हैं। दिगम्बर कहते हैं कि कुन्द कुन्द से लेकर भट्टारकों और अन्य अनेक पोंगापन्थियों तक के बनाये हुए ग्रन्थ वीरभगवान की वाणी है। अब कहिये! किसकी गुरु परम्परा ठीक है? यों तो सभी अपने बाप के गीत गाते हैं परन्तु इतने से ही सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो जाता। यहाँ तो गुरुपरम्परा के नाम पर मक्खी हाँकते बैठा न रहना पड़ेगा। समस्त साहित्य की साक्षी लेकर अपनी बुद्धि से जैनधर्म के मूल सिद्धान्त खोजने पड़ेंगे और उन्हीं सिद्धान्तों का कसौटी बनाकर स्वर्ण और पीतल की परीक्षा करना पड़ेगी, और धूर्तों तथा पक्षपातियों का भगडाफोड करना पड़ेगा। यह कहना कि "प्राचीन लेखकों में पक्षपाती धूर्त नहीं हुए" बिलकुल धोखेबाजी या अज्ञानता है। माना कि बहुत से लेखकों ने आपेक्षिक कथन किया है जैसाकि इसी प्रकरण में ऊपर कहा जा चुका है परन्तु थोड़े बहुत निरे पक्षपाती, उत्सूत्रवादी और कुलजाति मद के प्रचारक घोर मिथ्यात्वी भी हुए हैं। अगर किसी लेखक ने यह लिखा हो कि "पुरुष तो एक साथ हजारों स्त्रियाँ रखने पर भी अणुव्रती हैं परन्तु स्त्री, एक पति के मर जाने पर भी दूसरा पति रखे तो घोर व्यभिचारिणी है उसको पुनर्विवाह का अधिकार ही नहीं है" तो क्या पक्षपात न कहलायगा? पक्षपात के क्या सींग होते हैं? यह पुरुषत्व की उन्मत्तता का तांडव नहीं तो क्या है? पुरुषों ने शूद्र पुरुषों को भी कुचला है, इससे तो

सिर्फ़ यही सिद्ध होता है कि उनमें पुरुषत्व की उन्मत्तता के साथ द्विजत्व की उन्मत्तता भी थी। "उनने पुरुषों को भी कुचला इसलिये स्त्रियों को नहीं कुचला" यह नहीं कहा जासकता। मुसलमान आपस में भी लड़ते हैं, क्या इसलिये उनका हिन्दुओं से न लड़ना सिद्ध हो जाता है? कहा जाता है कि "उनने दुराचारी द्विजों की भी तो निन्दा की है, इसलिये वे सिर्फ़ दुराचार के ही निन्दक हैं"। यदि ऐसा है तो दुराचारी शूद्रों की और दुराचारिणी स्त्रियों की ही निन्दा करना चाहिये। स्त्रीमात्र को और शूद्र मात्र को नीचा क्यों दिखाया जाता है? अमेरिका में अपराधी लोग दण्ड पाते हैं और बहुत से हब्शी नाममात्र के अपराध पर इसलिये जला दिये जाते हैं कि वे हब्शी हैं, तो क्या यह उचित है? अपराधियों को दण्ड देने से क्या निरपराधियों का सताना जायज़ हो जाता है? प्राचीन लेखकों ने अगर दुराचारियों को कुचला है तो सिर्फ़ इसीलिये उनका शूद्रों को और स्त्रियों को कुचलना जायज़ नहीं कहला सकता।

यह पक्षपात पिशाच, उस समय बिलकुल नंगा हो जाता है जब दुराचारी द्विज के अधिकार, सदाचारी शूद्र और सदाचारिणी महिला से ज़्यादा समझे जाते हैं। दुराचारी द्विज अगर जीन बालकों को मार मारकर खाजाय तो भी उसके मुनि बनने का और मोक्ष जाने का अधिकार नहीं छिनता (देखो पद्मपुराण सोदास की कथा)। परन्तु शूद्र कितना भी सदाचारी क्यों न हो, उसका आत्मविकास कितना ही क्यों न हो गया हो वह मुनि भी नहीं बन सकता। झूठा, चोट्टा, व्यभिचारी और लुच्चा द्विज अगर भगवान की पूजा करे तो कोई हानि नहीं, परन्तु शूद्र आरम्भत्यागी या उद्दिष्ट त्यागी ही क्यों न हो, वह जिन पूजा करने का अधिकारी

नहीं। क्या सदाचार या चारित्र की यही प्रशंसा है? क्या इसी का नाम निःपक्षता है? क्षत्री हो या शूद्र हो प्रत्येक जीव को ऊचा से ऊँचा धर्म पालने का अधिकार है। जो उनके अधिकारों को छीनते हैं वे सिर्फ पक्षपाती ही नहीं डाकू हैं। मनुष्य जाति के दुश्मन हैं। वे चाहे पूर्व पुरुषों के वेष में हों, चाहे आचार्य के वेष में हों, चाहे और किसी रंग में रंगे हों, उनका नाम सिर्फ़ उनके नाम पर थूकने के लिये ही लेना चाहिये।

पाठक देखें कि पक्षपात का दोष लगाना सत्य है या नहीं! हमें यह वकालत इसलिये करनी पड़ी है कि आज बुद्धि और विवेक से काम लेने वालों को अधम पशु कहा जाता है। कौन अधम पशु हैं, इसका निर्णय पाठक ही करेंगे।

नवमा प्रश्न।

"विवाह के बिना, कामलालसा के कारण जो सङ्क्लेश परिणाम होते हैं, उन में विवाह होने से कुछ न्यूनता आती है या नहीं?" इस प्रश्न के उत्तर में हमने कहा था कि संक्लेश परिणामों को कम करने के लिये विवाह किया जाता है और इस में बड़ी भारी सफलता मिलती है। हमने सागारधर्मामृत और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोकोंसे अपने पक्ष का समर्थन किया था। आक्षेपक कई जगह तो हमारे भाव को समझ नहीं पाये और बाक़ी जगह उन से उत्तर नहीं बन पड़ा।

आक्षेप (क)—जब ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण कर युवा १६ वर्ष का होता है तब पितादि उस का विवाह करते हैं। ऐसी अवस्था में न किसी के विवाहके बिना संक्लेश परिणाम होते हैं न कुछ होना है। (श्रीलाल)

समाधान—कामलालसा रूप सङ्क्लेशके बिना किसी का

विवाह करना राजवार्तिक के लक्षण के अनुसार विवाह ही नहीं कहला सकता। जैसे ज्वर न होने पर ज्वर की औषधि देना हानिकारक है, उसी प्रकार काम वासनाके विना उसका विवाह कर देना हानिकारक है। उस से तो नवीन कामज्वर पैदा हो जायगा। खैर, अगर १६ वर्ष के युवा में कामवासना नहीं है तो क्या २०—३० वर्ष के उस विधुर में भी नहीं है, जो विवाह के लिये अपनी सारी शक्ति लगा रहा है? विवाह के होजाने पर वह थोड़ी बहुत निश्चिन्तता का अनुभव करता है या नहीं? यही निश्चिन्तता तो सङ्क्लेश परिणामोंकी न्यूनता है। जिस प्रकार विधुरविवाहसे संक्लेश परिणामों में न्यूनता होती है उस प्रकार विधवाविवाहसे भी संक्लेश परिणामों में न्यूनता होती है, इसलिये विधवाविवाह भी विधेय है।

आक्षेप (ख)—जिन पुरुषोंके सर्वथा विवाह होने की आशा नहीं है, उन का काम नष्ट जैसा होजाता है। उन की इच्छा भी नहीं होती। जैसे किसी ने आलू खाना छोड दिया तो उसका मन आलुओं पर नहीं चलता। रात्रिमें जलत्यागियों को प्यास नहीं लगती। पुनः पुनः काम न सेवन करने से काम नष्ट हो जाता है। जिस विधवा का पुरुषसङ्ग की आशा नहीं होती, उसका मन विकृत नहीं होता।

समाधान—आक्षेप क्या है, पागल के प्रलाप हैं। नपुंसक को विवाह और कामभोगकी आशा तो नहीं होती परन्तु उसकी कामवेदना को शास्त्रकारों ने सब से अधिक तीव्र बतलाया है। यदि साधन न मिलने से ब्रह्मचर्य होने लगता तो विधुर और विधवाओं में व्यभिचार क्यों होता? आलू छोड देना एक बात है और आलू न मिलना दूसरी बात है। ब्रह्मचर्य एक बात है और दुर्भाग्यवश विधवा या विधुर हो जाना, दूसरी बात है। रात्रि में जलत्यागियों को प्यास नहीं लगती,

इसका कारण यह है कि वे संख्या को ही तोड़े टो तोड़े पानी गटक जाया करते हैं। और! विधवा होने से जिनकी काम-वासना नष्ट होजावे उनसे विवाह का अनुरोध नहीं किया जाता परन्तु जो कामवासना पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती है उन्हें अवश्य ही विवाह कर लेना चाहिये।

आक्षेप (ग)—काम शान्ति को विवाह का मुख्य उद्देश्य बताना मूर्खता है। शुद्ध सन्तानोत्पत्ति व गृहस्थ धर्म का दानादिकार्य यही मुख्य उद्देश्य है।.....अतएव काम गौण है, मुख्य धर्म ही है। (श्रीलाल)

समाधान—आक्षेपक यहाँ इतना पागल होगया है कि उसे काम में और कामवासना की निवृत्ति में कुछ अन्तर ही नहीं मालूम होता। हमने कामवासना की निवृत्ति को मुख्य-फल कहा है न कि काम को। और कामवासना की निवृत्ति को धर्मरूप कहा है। धर्म अगर मुख्य फल है तो कामवासना की निवृत्ति ही मुख्य फल कहलायी। इसमें विरोध क्या है? पुत्रोत्पत्ति आदि को मुख्यफल कहने के पहिले आक्षेपक अगर हमारे इन शब्दों पर ध्यान देता तो उसे इस तरह निरर्गल प्रलाप न करना पड़ता—

'मान लीजिये कि किसी मनुष्य में मुनिव्रत धारण करने की पूर्ण योग्यता है। ऐसी हालत में अगर वह किसी आचार्य के पास जावे तो वे उसे मुनि बनने की सलाह देंगे या श्रावक बन कर पुत्रोत्पत्ति की सलाह देंगे"?

यह कह कर हमने अमृतचन्द्र आचार्य के तीन श्लोक उद्धृत करके बतलाया था कि ऐसी अवस्था में आचार्य मुनिव्रत का ही उपदेश देंगे। मुनिव्रत धारण करने से बच्चे पैदा नहीं हो सकते, परन्तु कामलालसा की पूर्ण निवृत्ति होती है। इससे मालूम होता है कि जैनधर्म बच्चे पैदा करने पर जोर नहीं

देता, किन्तु कामलालसा की निवृत्ति पर जोर देता है। पूर्ण निवृत्ति में असमर्थ होने पर आंशिक निवृत्ति के लिये विवाह है। उससे सन्तान आदि की भी पूर्ति हो जाती है। परन्तु मुख्य उद्देश्य तो कामवासना की निवृत्ति ही रहा। अमृतचंद्र के पद्योंने यह विषय बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। फिर भी आक्षेपक को पद्यों की उपयोगिता समझ में नहीं आती। ठीक है, समझने को अक्ल भी तो चाहिये।

आक्षेप (घ)—विवाहको गृहस्थाश्रमका मूल कहकर धर्म, अर्थ, काम रूप तो नियत कर दिया, परन्तु इससे आप हाथ थप्पड खाली। जब काम गृहस्थाश्रम रूप है तब उस की शान्ति क्यों? काम-शान्ति से तो गृहस्थाश्रम उड़ता है। काम निवृत्तिको धर्म और प्रवृत्तिको काम कहना कैसा? एक विषय में यह कल्पना क्या? और अर्थ इस का साधक क्या? फल तो विवाह के तीन हैं, उलटा अर्थ साधक क्यों पड़ा? साध्य को साधक बनादिया? (श्रीलाल)

समाधान—यहाँ तो आक्षेपक बिलकुल हक्काबक्का हो गया है। इसलिये हमारे न कहने पर भी उसने काम को गृहस्थाश्रमरूप समझ लिया है। काम की पूर्णरूप से शान्ति हो जाय तो गृहस्थाश्रम उड़ जायगा और मुनिआश्रम आजायगा। अगर काम की निवृत्ति जरा भी न हो तो भी गृहस्थाश्रम उड़ जायगा, क्योंकि ऐसी हालत में वहाँ व्यभिचारादि दोषों का दौरदौरा हो जायगा। अगर काम की आंशिक निवृत्ति हो अर्थात् परदार विषयक काम की निवृत्तिरूप स्वदार सन्तोष हो तो गृहस्थाश्रम बना रहता है। आक्षेपक ऐसा जड़बुद्धि*

---

* आक्षेपकने ऐसे ही कटुक और एक वचनात्मक शब्दों का जहाँ तहाँ प्रयोग किया है: इसलिये हमें भी " शठम् प्रति

है कि वह अभी तक यह नहीं समझ पाया है कि कामवासना की आंशिक निवृत्तिका मतलब स्वदारसन्तोष या स्वपतिसन्तोष है। जो लोग स्वदारसन्तोष को विवाह का मुख्य फल नहीं मानते वे जैनधर्म से बिलकुल अनभिज्ञ निरे बुद्धू हैं। बेचारा श्रीलाल, काम निवृत्ति अर्थात् परदार निवृत्ति या परपुरुष-निवृत्तिको धर्म, और स्वदारप्रवृत्तिको काम कहनेमें चकित होता है। वाहरे श्रीलाल के पाण्डित्य! गृहस्थाश्रम, धर्म अर्थ काम तीनों का साधक है, परन्तु उन तीनों में भी परस्पर साध्य साधकता हो सकती है। जैसे—धर्म, अर्थ काम का साधक है, अर्थ, कामका साधक है आदि। खैर, हमारा कहना इतना ही है कि कुमारी विवाह के जो जो फल हैं वे सब विधवा विवाहसे भी मिलते हैं, इसलिये विधवाविवाह भी विधेय है।

आक्षेप (ङ)—जो पुरुष विषयों को न छोड़ सके वह गृहस्थधर्म धारण करे। यहाँ विषय शब्द से केवल काम की ही सूझी! (श्रीलाल)

समाधान—विषय तो पाँचों इन्द्रियों के होते हैं, परन्तु उन सब में यह प्रधान है। क्योंकि इसका जीतना सबसे अधिक कठिन है। जिसने काम को जीत लिया उसे अन्य विषयों को जीतने में कठिनाई नहीं पड़ती। इसलिये काम की मर्यादा करने वाला एक स्वतन्त्र अणुव्रत कहा गया है। अन्य भोगोपभोग सामग्रियों के व्रत को तो गुणव्रत या शिक्षाव्रत में डाल दिया है। उसका सातिचार पालन करते हुए भी व्रती रह सकता है, परन्तु ब्रह्मचर्याणुव्रत में अतिचार लगने से व्रत प्रतिमा नष्ट हो जाती है। क्या इससे सब विषयों में काम विषय की प्रधानता नहीं मालूम होती? ग्रन्थकारों ने इस

शाठ्यमाचरेत्" इस नीति के अनुसार ऐसा ही प्रयोग करना पड़ा है।

—सव्यसाची।

प्रधानता का स्पष्ट उल्लेख किया है 'विषयान्-इष्टकामिन्यादीन्'—सागारधर्मामृत टीका। क्या इससे काम की प्रधानता नहीं मालूम होती ? विवाह के प्रकरण में तो यह प्रधानता और भी अधिक माननीय है, क्योंकि काम विषय को सीमित करने (आंशिक निवृत्ति) के लिये ही विवाह की आवश्यकता । रसनेन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय आदि के विषयों को सीमित करने के लिये विवाह की जरूरत नहीं है । विवाह के बिना अन्य इन्द्रियाँ उच्छृंखल नहीं होतीं, सिर्फ यही इन्द्रिय उच्छृंखल होती है । इसलिये सागारधर्मामृत टीका में परविवाहकरण नाम के अतिचार की व्याख्या में पुत्र पुत्री के विवाह की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है कि 'यदि स्वकन्याविवाहो न कार्यते तदा स्वच्छन्दचारिणी स्यात् ततश्च कुलसमयलोकविरोधः स्यात् विहितविवाहात्तु पतिनियतस्त्रीत्वेन न तथा स्यात् । एष न्यायः पुत्रेऽपि विकल्पनीयः' अर्थात् 'अगर अपनी पुत्री का विवाह न किया जायगा तो वह स्वच्छन्दचारिणी हो जायगी, परन्तु विवाह कर देने से वह एक पति में नियत हो जायगी । इसलिये स्वच्छन्दचारिणी न होगी । यही बात पुत्र के लिये भी समझ लेना चाहिये अर्थात् विवाह से वह स्वच्छन्दचारी न होगा' । यहाँ पुत्र पुत्री के लिये जो बात कही गई है वह विधवा पुत्री के लिये भी लागू है । आक्षेपक में अगर थोड़ी भी अक्ल होगी तो वह इन प्रमाणों से समझ सकेगा कि विवाह का मुख्य उद्देश्य क्या है, और वह विधवाविवाह से भी पूर्ण रूपमें सिद्ध होता है । सागारधर्मामृत के इस उल्लेख से आक्षेप नम्बर 'क' का भी समाधान होता है ।

आक्षेप (ख)—समाज की अपेक्षा से सन्तानोत्पत्ति को मुख्य बतलाना भूल है । समाज में १—२ लड़के न हुए न

सही, परन्तु विवाह वाले के न हुए तो उसका तो घर ही चौपट है।

समाधान—त्याग के गीत गाने वालों की यहाँ पोल खुल गई। उनके ढोंगों का भण्डाफोड़ होगया। अरे भाई! घर, गृहिणी को कहते हैं गृहं हि गृहिणीमाहुः—सागारधर्मामृत। लड़का न होने से न गृहिणी मरेगी, न गृही मरेगा, न दोनों के ब्रह्मचर्याणुव्रत में बाधा आयगी, न महाव्रत धारण करने का अधिकार छिन जायगा। मनुष्य जीवन के जो वास्तविक उद्देश्य हैं उनका एक भी साधन नष्ट न होगा। क्या इसी का नाम चौपट हो जाना है? बनावटी धर्म के वेष में रंगे हुए ढोंगियों! क्या यही तुम्हारा जीवन सर्वस्व है? हाँ, सन्तान के न होने से समाज की हानि है, क्योंकि समाज मोक्ष नहीं जाती न मुनि बनती है। अगर वह मुनि बन जाय तो नष्ट हो जाय। एक एक दो दो मिलकर ही तो समाज है। सन्तान के अभाव में समाज नष्ट हो सकती है, परन्तु सन्तान के अभाव में व्यक्ति तो मोक्ष तक जासकता है। अब समझो कि सन्तान किसके लिये मुख्य फल कहलाया? क्या इतने स्पष्ट प्रमाणों के रहते हुए भी तुम्हारा मुख्य गौण का प्रश्न बना हुआ है?

आक्षेप (छ)—कुमारी और विधवा को स्त्री समान समझकर समान कर्त्तव्य बतलाना भूल है। माता बहिन वधू सभी स्त्री हैं, परन्तु बहिन माता अभोज्य है, वधू भोज्य है।

(श्रीलाल)

समाधान—भोज्य-भोजक सम्बन्ध की नीच और बर्बर कल्पनाका हम समाधानकर चुके हैं। जो हमारी बहिन है वह हमारे बहिनेउ की बहिन नहीं है। जो हमारी माता है वह हमारे पिता की माता नहीं है। हमारी वधू दूसरे की वधू नहीं है। इसलिये यह भोज्याभोज्यता आपेक्षिक है। सर्वथा

अभोज्यता किसी में नहीं है। बहिन माता आदि ये नातेदारी के शब्द हैं, इसलिये नातेदारी की अपेक्षा से इनकी भोज्याभोज्यता की कल्पना की है। कुमारी और विधवा ये अवस्था-विशेष के शब्द हैं, इसलिये इनकी भोज्याभोज्यता अवस्था के ऊपर निर्भर है। जबतक कुमारी या विधवा है तब तक अभोज्य है जब उस कुमारी या विधवा का विवाह हो जायगा तब वह भोज्य होजायगी। भोज्य तो वधू है, फिर भले ही वह कुमारी रही हो या विधवा। मातृत्व और भगनीत्व सम्बन्ध जन्म से मरण तक स्थायी हैं। कौमार्य और वैधव्य ऐसे सम्बन्ध नहीं हैं। उनको बदलकर वधू का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। स्त्री होने से ही कोई भोज्य नहीं होजाती, वधू होने से भोज्य होती है। मातृत्व, भगनीत्व अमिट हैं, कौमार्य और वैधव्य अमिट नहीं हैं। इसलिये माता और भगिनी के साथ विवाह नहीं किया जासकता किन्तु कुमारी या विधवा के साथ किया जा सकता है। आक्षेपक के आक्षेप को अगर हम विधुर-विवाह के निषेध के लिये लगावें तो आक्षेपक क्या उत्तर देगा ? देखिये—आक्षेप—"कुमार और विधुर को पुरुष समान समझकर समान कर्तव्य बतलाना भूल है। पिता, भाई, पति सभी पुरुष हैं, परन्तु भाई और पिता अभोज्य हैं, पति भोज्य है"। आक्षेपक के पास इसका क्या उत्तर है ? वही उत्तर उसे विधवाओं के लिये लगा लेना चाहिये।

आक्षेप (ज)—विधवाविवाह के पक्षपाती भी अपने घर की विधवाओं के नाम पर मुँह सकोड लेते हैं।

समाधान—यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक विधवा का विवाह जरूर करना चाहिये। अगर कोई विधवा विवाह नहीं करना चाहती तो सुधारक का यह कर्तव्य नहीं है कि वह जबर्दस्ती विवाह करदे। जबर्दस्ती विवाह करने का

रिवाज तो नादिरशाह के अवतार स्थितिपालकों के घर में होता है।

अगर वास्तव में किसी सुधारक में अपने घर में आवश्यक होने पर भी विधवाविवाह को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति नहीं है तो उसकी यह कमजोरी है। वह नैष्ठिक सुधारक नहीं है, सिर्फ़ पाक्षिक सुधारक है। जिस प्रकार पाक्षिक श्रावकों के होने से नैष्ठिक श्रावकों का अभाव नहीं कहा जा सकता और न वे निंदनीय हो सकते हैं, उसी तरह पाक्षिक सुधारकों के होने से नैष्ठिक सुधारकों का अभाव नहीं कहा जासकता और न उनकी निंदा की जासकती है।

आक्षेप (भ)—विधवाविवाह यूरुपियनों एवं मोहमडनों (मुसलमानों) में भी अनिवार्य नहीं है, क्योंकि यह नीच प्रथा है। (श्रीलाल)

समाधान—योरोप में तो कुमारी और कुमारों का विवाह भी अनिवार्य नहीं है। फ्रॉस में तो इस कौमार्य का रिवाज इतना बढ़ गया है कि वहाँ जनसंख्या घट रही है। दूसरे देशों में भी कौमार्य का काफी रिवाज है। इसलिये विवाह भी एक नीच प्रथा कहलाई। आक्षेपक को अभी कुछ मालूम ही नहीं है। विधवाविवाह अनिवार्य न होने के कई कारण हैं। एक कारण यह है कि विधवा और विधुर होते होते किसी का आधा जीवन निकल जाता है व किसी का तीन चतुर्थांश या इससे भी ज़्यादा जीवन निकल जाता है, ऐसे लोगों को इसकी आवश्यक्ता का कम अनुभव होता है। इसलिये वे लोग विवाह नहीं करते। नीचता के डर से वहाँ विधवाविवाह नहीं रुकते। अगर किसी जगह विधुरविवाह नीच प्रथा नहीं कहलाता और विधवाविवाह नीच प्रथा कहलाता है तो इससे सिर्फ़ इतना ही सिद्ध

होता है कि वहाँ के लोग नीच मिथ्यात्वी, घोर अत्याचारी, महान् पक्षपाती और अत्यन्त मदांध हैं। इन दुर्गुणों का अनुकरण करके जैनियों को ऐसे मदांध पापी क्यों बनना चाहिये ?

आक्षेप (ञ)—लॉर्ड घरानों में कुनई विधवाविवाह नहीं होता। विधवाविवाह से उच्च नीच का भेद न रहेगा।

समाधान—लॉर्ड घराने का मतलब श्रीमन्त घराने से है। लॉर्ड कोई जाति नहीं है। साधारण आदमी भी श्रीमन्त और महर्द्धिक बनकर लॉर्ड बन सकते हैं। इन सब में विधवा विवाह होता है। हाँ साधारण विधवाओं की अपेक्षा लॉर्ड घराने की विधवाएँ कुछ कम संख्या में विवाह कराती हैं। यह उच्चता नीचता का प्रश्न नहीं, किन्तु साम्पत्तिक प्रश्न है। लॉर्ड घराने की अपार सम्पत्ति छोड़कर विवाह कराना उन्हें उचित नहीं जँचता। जिन्हें जँचता है वे विवाह करा ही लेती हैं। दक्षिण के डेढ़ लाख जैनियों में, आर्यसमाजियों में, ब्रह्मसमाजियों में, विधवाविवाह होता है परन्तु वे भंगी चमार नहीं कहलाते।

आक्षेप (ट)—सूरजभान का जीवदया की पुकार मचाकर विधवाविवाह को कर्तव्य बतलाना अनुचित है। जीवदया धर्म है, न कि शरीर दया। मन्दिर बनवाना धर्म है और प्याऊ लगवाने से अधर्म है। अगर कोई व्यभिचारिणी कामभिक्षा माँगे तो वह नहीं दी जासकती। जो दया धर्मवृद्धि का कारण है, वही वास्तविक दया है। (श्रीलाल)

समाधान—बेचारा आक्षेपक दान के भेदों को भी न समझा। उसे जानना चाहिये कि आत्मगुणों की उन्नति को लक्ष्य में लेकर जो दान दिया जाता है वह पात्रदान है, न कि दयादान। दयादान तो शरीर को लक्ष्य में लेकर ही दिया

जाता है, फिर भले ही उससे धर्म किया जाय या न किया जाय। आक्षेपक प्याऊ लगवाने को अधर्म कहता है, परन्तु सागारधर्मामृत में प्याऊ और सत्र को स्थापित करने का उपदेश दिया गया है—

"सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया।
सत्रमन्नप्रदानस्थानं, अपिशब्दात्प्रपां च" ॥

अर्थात्—दीन प्राणियों के उपकार की इच्छा से सत्र (भोजनशाला जहाँ गरीबों को मुफ्त में भोजन कराया जाता है) और प्याऊ खोलें। दान, गृहस्थों का मुख्य कर्तव्य है। जब आक्षेपक दान के विषय का साधारण ज्ञान भी नहीं रखता तो गृहस्थधर्म कैसे निभाता होगा? जो गृहस्थ प्यासों को पानी पिलाने में भी अधर्म समझता है वह निर्दय तथा क्रूर जीव जैनी कैसे कहला सकता है?

व्यभिचारिणि को कामभिक्षा नहीं दी जासकती, परन्तु आक्षेपक के मतानुसार व्यभिचारियों को कामभिक्षा दी जा सकती है, क्योंकि अगर द्वितीय विवाह कराने वाली स्त्री व्यभिचारिणी है, तो द्वितीय विवाह कराने वाला पुरुष भी व्यभिचारी है। क्या पुरुष का दूसरा विवाह धर्मवृद्धि का कारण है? यदि हाँ, तो स्त्री का दूसरा विवाह भी धर्मवृद्धि का कारण है, जिसकी सिद्धि पहिले विस्तार से की जा चुकी है।

जो चार चार स्त्रियों को निगलजाने वाले को तो धर्मात्मा समझता हो, किन्तु पुनर्विवाह करने वाली स्त्रियों को व्यभिचारिणी कहता हो, उसकी धृष्टतापूर्ण नीचता का कुछ ठिकाना भी है! ·

आक्षेपक स्वीकार करता है और हम भी कह चुके हैं कि विवाहका लक्ष्य कामशान्ति, स्वदारसन्तोष, स्व-पतिसन्तोष अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत है। विवाह कामभिक्षा नहीं है। क्या

आक्षेपक अपनी बहिन बेटियों के विवाह को कामभिक्षा समझता है? यदि नहीं, तो विधवाओं के विवाह को कामभिक्षा नहीं कह सकते। विधवाओं का विवाह धर्मवृद्धि का कारण है, यह बात हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं।

आक्षेप (ठ)—विवाह से कामलालसा घटती है, इस का एक भी प्रमाण नहीं दिया। विवाह होने पर भी कामलालसा नष्ट नहीं हुई, उल्टी बढ़ी है, जैसे रावणादिक की।

(विद्यानन्द)

समाधान—आबालगोपाल प्रसिद्ध बातको शास्त्र प्रमाणों की ज़रूरत नहीं होती। फिर भी प्रमाण चाहिये तो आशाधर जी के इन शब्दों पर ध्यान दीजिये कि—अगर पुत्र पुत्री का विवाह न किया जायगा तो वे स्वच्छन्दचारी हो जायँगे (देखो आक्षेप 'ङ')। विवाह से अगर कुलसमयलोकविरोधी यह स्वच्छन्दाचार घटता है तो यह क्या कामलालसा का घटना न कहलाया? विवाह होने पर भी अगर किसी की कामलालसा नष्ट नहीं होती तो इसके लिये हम कह चुके हैं कि उपाय १०० में दस जगह असफल भी होता है। तीर्थङ्करों के उपदेश रहने पर भी अगर अभव्य का उद्धार न हो, सूर्य के रहने पर भी अगर उल्लू को न दिखे तो इसमें तीर्थङ्कर की या सूर्य की उपयोगिता नष्ट नहीं होती है। इसी तरह विवाह के होने पर अगर किसी का दुराचार न रुके तो इससे उसकी उपयोगिता का अभाव नहीं कहा जा सकता। आक्षेपक ने यहाँ व्यभिचार दोष दिखलाकर न्यायनभिज्ञता का परिचय दिया है। इस दृष्टि से तो तीर्थङ्कर और सूर्य की उपयोगिता भी व्यभिचरित कहलाई। आक्षेपक को जानना चाहिये कि कारण के सद्भाव में कार्य के अभाव होने पर व्यभिचार नहीं होता, किन्तु कार्य के सद्भावमें कारण के अभाव होने पर व्यभि-

चार होता है। अग्नि कारण है, परन्तु उसके होने पर भी अगर धुआँ न निकले तो अग्नि और धुआँ का कार्य कारणभाव व्यभिचरित नहीं कहलाता। हमने इसी बातके समर्थन में कहा था कि "चिकित्सा करने पर भी लोग मरते हैं, शास्त्री होने पर भी लोग धर्म नहीं समझते"। इस पर आप कहते हैं कि "वह चिकित्सा नहीं, चिकित्साभास है, वह शास्त्री, शास्त्री नहीं है"। बहुत ठीक, हम भी कहते हैं कि जिस विवाह के बाद काम लालसा शान्त नहीं हुई, किन्तु बढी है, वह विवाह नहीं, विवाहाभास है। वास्तविक विवाह तो कामलालसा को अवश्य शांत करेगा। इसलिये विधवाविवाह से भी कामलालसा की शांति होती है।

आक्षेप (ङ)—यह कोई नियम नहीं कि विवाहके विना प्रत्येक व्यक्ति को देखकर पापवासना जागृत हो जाय। वासुपूज्य अकलङ्क आदि के विवाह नहीं हुए। क्या सभी असंयमी थे?

समाधान—कामलालसा की आंशिक शांति के लिए विवाह एक औषधि है। वासुपूज्य आदि ब्रह्मचारी थे। उनमें कामलालसा थी ही नहीं, इसलिये उन्हें विवाह की भी ज़रूरत नहीं थी। "अमुक आदमी सख़्त बीमार है। अगर उसकी चिकित्सा न होगी तो मरजायगा"—इस के उत्तर में अगर यह कहा जाय कि—वैद्य के पास तो सौ दोसौ आदमी जाते हैं, बाक़ी क्यों नहीं मरजाते? तो क्या यह उत्तर ठीक होगा? अरे भाई! बीमार को औषधि चाहिये, नीरोगको औषधि नहीं चाहिये। इसी तरह कामलालसा वाले मनुष्य को उस की आंशिक शांति के लिए विवाह की आवश्यकता है, न कि ब्रह्मचारी को। इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि विवाह का मुख्य उद्देश्य लडके बच्चे नहीं हैं। बालब्रह्मचारियों के

सन्तान नहीं होती, फिर भी वे विवाह नहीं कराते। क्योंकि उन्होंने विवाह का मुख्य उद्देश्य विवाह के बिना ही पूर्ण कर लिया है। मुख्य उद्देश्य की पूर्ति होने पर गौण उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य नहीं किया जाता।

आक्षेप (ढ)—कामवासना के शान्त न होने के कारण विधवाविवाहके विरोधी, विधवाविवाहका विरोध नहीं करते, किन्तु उनसे विरोध कराने का कारण है भगवान महावीर का आगम। आप उत्तर दें। आपके प्रमाण हमें जँचे तो हम आप के आन्दोलन में आपका हाथ बटावेंगे।

समाधान—नवमाँ प्रश्न भगवान के आगम के विचार का नहीं था। उसका विचार तो पहिले प्रश्नों में अच्छी तरह होगया। इसमें तो यह पूछागया है कि विवाहसे कामलालसा के परिणामों में न्यूनता आती है या नहीं? यदि आती है तो विधवाविवाह आवश्यक और उचित है। यदि नहीं आती तो विधवाविवाह अनावश्यक है। इसीलिये हमने युक्ति और शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध किया है कि विवाह से सक्लेशता कमती होती है। युक्ति और तर्क के बलपर हमारे आन्दोलन में वही शामिल होगा जो सत्यप्रिय होगा, आत्मोद्धार का इच्छुक होगा, देशसमाज का रक्षक होगा। सव्यसाची, टके के गुलामों की पर्वाह नहीं करता। जिस प्रकार प्राचीन सव्य-साची ने कृष्ण का बल पाकर अपने गाण्डीव धनुष से निकले हुए बाणों से कौरव दल का अवसान किया था उसी प्रकार आधुनिक सव्यसाची भगवान महावीर का बल पाकर अपन ज्ञान गाण्डीव से निकले हुए तर्करूपी बाणों से स्थितिपालक दल का अवसान करेगा।

आक्षेप (ण)—सव्यसाची महोदय की दृष्टि में व्यभि-चार को रोकने का उपाय विवाहमार्ग को उड़ाना है। आपको

कुछ होश भी है कि आप ऊपर क्या कुछ लिख आये हैं ? पहिले उसे जलाकर खाक कर डालो तब दूसरी बात कहना।

समाधान—हमने कहा था कि "यदि विवाह होने पर भी किन्हीं लोगों की कामवासना शान्त नहीं होती तो इससे विधवाविवाह का निषेध कैसे हो सकता है। फिर तो विवाह मात्र का निषेध होना चाहिये।' पाठक देखें कि हमारा यह वक्तव्य क्या विवाह मार्ग को उड़ाने का है? हम तो विधवाविवाह और कुमारी विवाह दोनों के समर्थक हैं। परन्तु जो लोग जिस कारण से विधवाविवाह अनावश्यक समझते हैं, उन्हें उसी कारण से कुमारीविवाह भी अनावश्यक मानना पड़ेगा। असली बात तो यह है कि अगर किसी जगह विवाह (कुमारीविवाह या विधवाविवाह) का फल न मिले तो क्या विवाहप्रथा उड़ा देना चाहिये? हमारा कहना है कि नहीं उड़ाना चाहिये। जब कि आक्षेपक का कहना है कि उड़ा देना चाहिये, क्योंकि आक्षेपक ने विधवाविवाह की प्रथा उड़ा देने के लिये उसकी निष्फलता का ज़िकर किया है। ऐसी निष्फलता कुमारीविवाह में भी हो सकती है, इसलिये आक्षेपक के कथनानुसार वह प्रथा भी उड़ा देने लायक ठहरी।

आक्षेप (त)— आदिपुराण, सागारधर्मामृत, प० मेधावी, पं० उदयलालजी, शीतलप्रसादजी, दयाचन्द गोयलीय आदि ने पुत्रोत्पत्ति के लिये ही, विवाह कामभोग का विधान किया है, कामवासना की पूर्ति को कामुकता बतलाया है।

समाधान—कामलालसा की पूर्ति कामुकता भले ही हो परन्तु कामलालसा की निवृत्ति कामुकता नहीं है। स्वस्त्रीरमण को कामुकता भले ही कहा जाय, परन्तु परस्त्रीत्याग कामुकता नहीं है। यह कामलालसा की निवृत्ति है। हमने शास्त्रप्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने की अस-

मर्थना में ही गृहस्थ धर्म अङ्गीकार करना चाहिये। अमृतचंद्र जी और आशाधरजी के श्लोक हम लिख चुके हैं। फिर भी आक्षेपक का पूछना है कि प्रमाण बताओ ! खैर, और भी प्रमाण लीजिये।

सागारधर्मामृत के द्वितीय अध्याय का प्रथम श्लोक— "त्याज्यानजस्र" आदि पहिले ही लिखा जा चुका है। 'यदि कन्या विवाहो न कार्यते' आदि उद्धरण आक्षेप (ङ) में देखो।

'विषयसुखोपभोगेनैव चारित्रमोहोदयोद्रेकस्य शक्य-प्रतीकारत्वात् तद्द्वारेणैव तस्माद्व्यावर्त्यात्मानमिव साधर्मिकमपि विषयेभ्यो व्युपरमयेत्। विषयेषु सुखभ्रान्तिकर्माभिमुखपाक-जाम्। छित्वातदुपभोगेन त्याजयेत्तान्स्ववत्परान्।'

अर्थात्—चारित्रमोह का जब तीव्र उदय होता है तो विषयसुख के उपभोग से ही उसका प्रतीकार (निवृत्ति) हो सकता है, इसलिये उनका उपभोग करके निवृत्त होवे और दूसरे को निवृत्त करे।

सुखभ्रान्ति हटाने का यह वक्तव्य विवाह की आवश्यकता के लिये कहा गया है। खैर, और भी ऐसे प्रमाण दिये जासकते हैं। निवृत्तिमार्गप्रधान जैनधर्ममें निवृत्तिपरक प्रमाणों की कमी नहीं है। यहाँ पर मुख्य बात है समन्वय की, अर्थात् जब विवाह का उद्देश्य कामलालसा की निवृत्ति अर्थात् आंशिक ब्रह्मचर्य है तब पुत्रोत्पत्ति का उल्लेख प्राचीन लेखकों ने क्यों किया ? नासमझ लोगों से तो क्या कहा जाय, परन्तु समझदार समझते हैं कि पुत्रोत्पत्तिका उल्लेख भी कामलालसा की निवृत्ति के लिये है। जैनधर्म प्रथम तो कहता है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य पालो। अगर इतना न हो सके तो विवाह करके आंशिक निवृत्ति (परदारनिवृत्ति) करो। परन्तु लक्ष्य तो पूर्ण निवृत्ति है इसलिये धीरे धीरे उसके निवृत्ति-अंश बढ़ाये जाते

है और उससे कहा जाता है कि तुम्हें सन्तान के लिये ही सम्भोग करना चाहिये। जब उसकी यह बात समझ में आ जाती है तब वह ऋतुस्नान के दिन ही काम सेवन करता है। इस तरह प्रति मास २६ दिन उसके ब्रह्मचर्य से बीतने लगते हैं। आचार्यों ने परदारनिवृत्ति के बाद स्वस्त्री-सम्भोग-निवृत्ति का भी यथासाध्य विधान बतलाया है। इसलिये कहा है "सन्तानार्थमृतावेव"। अर्थात् सन्तान के लिये ऋतुकालमें ही सेवन करे। इससे पाठक समझ गये होंगे कि सन्तान की बात भी कामलालसा की निवृत्ति को बढ़ाने के लिये है।

आचार्यों ने जहां सन्तान के उत्पादन, लालन, पालन आदि की बातें लिखी हैं उसका प्रयोजन यही है कि "जब तुम आंशिक प्रवृत्ति और आंशिक निवृत्ति के मार्ग में आये हो तो परोपकार आदि गौण उद्देशों का भी खयाल रक्खो, क्योंकि ये कामलालसा की निवृत्ति रूप मुख्य उद्देश को बढ़ाने वाले हैं, साथ ही परोपकार रूप भी हैं।" यदि अन्नप्राप्ति का मुख्य उद्देश्य सिद्ध हो गया है तो भी भूसा की प्राप्ति का गौण उद्देश्य भी छोड़ने योग्य नहीं है।

आक्षेप (थ)—कामलालसा की निवृत्ति तो वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन से भी हो सकती है, फिर विवाह की आवश्यकता ही क्या?

समाधान—कामलालसाके जिस अंशकी निवृत्ति करना है, वह वेश्यासेवन और परस्त्रीसेवन ही है। इसी कामलालसा से बचने के लिये तो विवाह होता है। इससे विवाह का लक्ष्य आंशिक ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोष कैसे सिद्ध हो सकता है?

इससे पाठक समझेंगे कि हमारे कथनानुसार विवाह मजे के लिये नहीं है, परन्तु तीव्र चारित्र मोह के उदय को शांत करने के लिये पेयौषधि के समान कुछ भोग भोगने पड़ते हैं जैसा

कि अमृतचन्द्र आचार्य और आशाधरजी ने कहा है, जो कि हम लिख चुके हैं।

स्त्रीपुरुष के अधिकार भेद के विषय में कहा जा चुका है। विधवाविवाह को जहर आदि कहना युक्ति से जीतने पर गालियों पर आजाना है।

आक्षेप (ट)—यदि विवाह से ही कामलालसा की निवृत्ति मानली जाय तो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों की क्या आवश्यकता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य का भी तो काम की निवृत्ति के लिये उपदेश है?

समाधान—अभी तक आप कामलालसा की निवृत्ति को बुरा समझते थे। इसके समर्थकों को आपने पागल, मोही, नित्यनिगोदिया (निगोदिया), अज्ञानी, रट्टू तोते आदि लिख मारा था। यहाँ आपने इसे ब्रह्मचर्य का साध्य बना दिया है।

खैर, कुछ तो ठिकाने पर आए। अब इतना और समझ लीजिये कि विवाह, ब्रह्मचर्य अणुव्रत का मुख्य साधक है। इसलिये विवाह और ब्रह्मचर्यव्रत के लक्ष्य में कोई विरोध नहीं है। ब्रह्मचर्यव्रत अन्तरङ्गसाधक है, विवाह बाह्यसाधक, इस लिये कोई निरर्थक नहीं है। एक साध्य के अनेक साधक होते हैं।

आक्षेप (थ)—जिनकी कामलालसा प्रबल है, वे बिना उपदेश के ही स्वयमेव इस पथ को पकड़ लेती हैं। फिर आप क्यों अपना अहित करते हैं?

समाधान—जिनकी कामलालसा प्रबल है, वे अभी स्वयमेव विधवाविवाह के मार्ग को नहीं पकड़तीं, वे व्यभिचार के मार्ग को पकड़ती हैं। उसकी निवृत्ति के लिये विधवाविवाह के आन्दोलन की जरूरत है। विवाह न किया जावे तो कुमारियाँ भी अपना मार्ग ढूँढ लेंगी, लेकिन वह व्यभिचार का मार्ग होगा। इसलिये लोग उनका विवाह कर देते हैं। फल यह

होता है कि व्यभिचार मार्ग बहुत कुछ रुक जाता है। ठीक यही बात विधवाओं के लिये है।

दसवाँ प्रश्न

'क्या विधवा हो जाने से ही आजन्म ब्रह्मचर्य पालन की शक्ति आजाती है?' इसके उत्तर में हमने कहा था कि 'नहीं'। दूसरे आक्षेपक (विद्यानन्द) ने भी हमारी यह बात स्वीकार करली है परन्तु पहिले आक्षेपक कहते हैं कि यह धृष्टता है। इसका मतलब यह निकला कि संसार में जितनी विधवाएँ हुई हैं वे सब व्यभिचारिणी हैं। आक्षेपक की इस मूर्खता के लिये क्या कहा जाय? प्रत्येक विधवा ब्रह्मचर्य नहीं पाल सकती है-इसका तो यही अर्थ है कि कोई कोई पाल सकती है, जिनके परिणाम विरक्तिरूप हों। इसलिये हमने लिखा था कि यह बात परिणामों के ऊपर निर्भर है। परन्तु श्रीलाल, न तो परिणामों की बात समझा, न उस वाक्य का मतलब। श्रीलाल यह भी कहता है—'सरागता से मुनि में भ्रष्टता नहीं आती, न पर पुरुष से रमणरूप मात्र से विधवा भ्रष्ट होती है।' हम अपने शब्दों में इसका उत्तर न देकर आक्षेपक के परम सहयोगी प० मक्खनलाल के वाक्यों में लिखते हैं:—

"सरागता से विधवाएँ शीलभ्रष्ट जरूर कहलायेंगी। मुनि भी सरागता से भ्रष्ट माना जाता है।" अब ये दोनों दोस्त आपस में निबट लें।

दोनों ही आक्षेपकों ने एक ही बात पर विशेष ज़ोर दिया है। "विधवाविवाह अधर्म है; उसको कोई तीसरा मार्ग नहीं है, विधवा का विवाह नहीं हो सकता, उसे विवाह नहीं, कराव या धरेजा कहते हैं। आप के पास क्या युक्ति प्रमाण है? आप अपनी इच्छा से ही विधवाविवाह का उपदेश क्यों

करते हो ?" आदि। इन सब बातों का उत्तर पहिले अच्छी तरह दिया जा चुका है। अब वारवार उत्तर देने की ज़रूरत नहीं है।

हाँ, अब दो आक्षेप रह जाते हैं जिनका उत्तर देना है। इनमें अन्य आक्षेपों का भी समावेश हो जाता है।

आक्षेप (क)—प्रत्येक मनुष्य में तो शराब के त्यागने की शक्ति का प्रगट होना भी अनिवार्य नहीं है तब क्या शराब पी लेना चाहिये ?

समाधान—विधवाविवाह की जैसी और जितनी उपयोगिता है वैसी यदि शराब की भी हो तो पी लेना चाहिये।

(१) विधवाविवाह परस्त्रीसेवन या परपुरुषसेवन से बचाता है। इसलिये अणुव्रत का साधक है। क्या शराब अणुव्रत का साधक है ?

(२) विधवाविवाह से भ्रूणहत्या रुकती है। क्या शराब से भ्रूण या कोई हत्या रुकती है ?

(३) जैनशास्त्रों में जैसे विधवाविवाह का निषेध नहीं पाया जाता, क्या वैसा शराब का निषेध नहीं पाया जाता ?

(४) पुरुषसमाज अपना पुनर्विवाह करती है और स्त्रियों को नहीं करने देना चाहती। क्या इसी तरह पुरुष समाज शराब पीती है और क्या स्त्रियों को नहीं पीने देना चाहती ?

(५) जिस विधवा के सन्तान न हो और उसे सन्तान की आवश्यकता हो तो उसे विधवाविवाह अनिवार्य है। क्या इसी तरह शराब भी किसी ऐसे कार्य के लिये अनिवार्य है ?

(६) किसी को वैधव्य जीवन में आर्थिक कष्ट है, इसलिये विधवाविवाह करना चाहती है, क्या शराब भी आर्थिक कष्ट को दूर कर सकती है ?

(७) विधवाविवाह से जो सामाजिक और धार्मिक लाभ हमने सिद्ध किये हैं, क्या शराब से भी वे या वैसे लाभ आप सिद्ध कर सकते हैं ?

(८) विधवाएँ जिस तरह हीन दृष्टि से देखी जाती हैं, क्या उसी तरह शराब न पीने वाले देखे जाते हैं ?

यदि मद्यपान में लाभ हो तो जिसमें उसके त्याग करने की शक्ति नहीं है उसको उसका विधान किया जासकता है, अन्यथा नहीं।

पूर्ण ब्रह्मचर्य की शक्ति प्रगट न होना विधवाविवाह का एक कारण है। जब तक अन्य कारण न मिलें तब तक विधवाविवाह का विधान नहीं किया जाता है। उसके अन्य कारण मौजूद नहीं है इसीलिये उसका विधान किया गया है।

आक्षेप (ख)—कार्यों की बहुतसी जातियाँ हैं—(१) मुनिधर्मविरुद्ध श्रावकानुरूप (२) गृहस्थविरुद्ध मुनिअनुरूप (३) उभयविरुद्ध (४) उभयअनुरूप। विवाह प्रथम भेद में है।

समाधान—विधवाविवाह भी विवाह है इसलिये वह मुनिधर्म के विरुद्ध होने पर भी श्रावकानुरूप है। आप विधुर-विवाह को विवाह मानते और विधवाविवाह को विवाह नहीं मानते-यह बिलकुल पक्षपात और मिथ्यात्व है। हम पहिले विधवाविवाह को विवाह सिद्ध कर चुके हैं।

बलाद्वैधव्य की शिक्षा जैनधर्म की शिक्षा नहीं हो सकती। आचार्यों ने विधवाविवाहका कहीं निषेध नहीं किया। हाँ, धूर्तता और मूर्खता पुराने जमाने में भी थी। सम्भव है आजकल के पण्डितों के समान कोई अज्ञानी और धूर्त हुआ हो और उसने जैनधर्म के विरुद्ध, जैनधर्म के नाम पर ही कुछ अंट संट लिख मारा हो। परन्तु ऐसी

कुपुस्तकों को पुराने जमाने का जैनगज़ट ही समझना चाहिये। वास्तव में कोई जैन ग्रन्थ विधवाविवाह का विरोधी नहीं हो सकता और न कोई प्रसिद्ध जैनग्रन्थ है ही। नाना तरह की टीकाएँ जो शास्त्रों में पाई जाती हैं वे विशेष व्यक्तियों के लिये ही हैं—साधारण अणुव्रतियों के लिये नहीं।

वृद्धों को मुनि बनते न देखकर हम में चलमलिन आदि दोष कैसे पैदा होंगे? इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब वृद्ध लोग ब्रह्मचर्य से नहीं रह पाते और उनका ब्रह्मचर्य से न रहना इतना निश्चित है कि भद्रबाहु ने पहिले से ही कह दिया है, तब विधवाएँ ब्रह्मचर्य से कैसे रहेंगी?

भद्रबाहु श्रुतकेवली ने वृद्धों के मुनि न होने की विशेष बात तो कही, परन्तु विधवाओं के विवाह की विशेष बात न कही, इससे मालूम होता है कि विधवाविवाह प्राचीनकाल से चला आता है। यह कोई ऐसी विशेष और अनुचित बात न थी जिसका कि चन्द्रगुप्त को दुःस्वप्न होता और भद्रबाहु श्रुतकेवली उसका फल कहते। जो चाहे, जैसे चाहे, विचार करले, उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि गृहस्थों के लिये जैनधर्म में विधवाविवाह विरोध की परमाणु बराबर भी गुञ्जायश नहीं है।

इस प्रश्न में यह पूछा गया है कि धर्मविरुद्ध कार्य किसी हालत में (उससे बढ़कर धर्मविरुद्ध कार्य अनिवार्य होने पर) कर्तव्य हो सकता है या नहीं? इसके उत्तर में हमने कहा था कि हो सकता है। यह बात अनेक उदाहरणों से भी समझाई थी। विधवाविवाह व्यभिचार है आदि बातों का उत्तर हम दे चुके हैं।

आक्षेप (क)—जो कार्य धर्मविरुद्ध है, वह त्रिकाल में भी (कदापि) धर्मानुकूल नहीं हो सकता। पाँच पापों को धर्मानुकूल सिद्ध कीजिये। (श्रीलाल, विद्यानन्द)

समाधान—यदि इस विषय में शास्त्रार्थ की दृष्टि से लिखा जाय तब तो जैसे को तैसा ही उत्तर दिया जासकता है। जैनशास्त्रों में तो किसी अपेक्षा से गधे के सींग का भी अस्तित्व सिद्ध किया गया है। परन्तु हमें पाठकों की जिज्ञासा का भी खयाल है इसलिये तदनुकूल ही उत्तर दिया जाता है।

पाँच पापों में हिंसा मुख्य है। परन्तु द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से वह धर्मानुकूल अर्थात् कर्तव्य हो जाती है। जैसे—युद्ध में हिंसा होती है, परन्तु सीता की धर्मरक्षा के लिये रामचन्द्र ने अगणित प्राणियों की हिंसा कराई। अणुव्रती युद्ध में जाते हैं, ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट कथन है। शूकरने मुनिकी रक्षा करने के लिये सिंह को मार डाला और खुद भी मरा, पुण्यबंध किया और स्वर्ग गया। मन्दिर बनवाने में तथा अन्य बहुत से परोपकार के सारम्भ कार्यों में हिंसा होती है परन्तु वह पुण्यबन्ध का कारण कही गई है। जिन अमृतचन्द्र आचार्य की दुहाई आक्षेपक ने दी है, वे ही कहते हैं—

> अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
> कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥
> कस्यापि दिशति हिंसा, हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
> अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विफलम्॥
> हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
> इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥

एक आदमी हिंसा न करके भी हिंसाभागी होता है, दूसरा हिंसा करके भी हिंसाभागी नहीं होता। किसी की हिंसा, हिंसाफल देती है, किसी की हिंसा, अहिंसाफल देती है। किसी की अहिंसा, हिंसा फल देती है किसी कि अहिंसा अहिंसाफल देती है।

क्या इससे यह बात नहीं सिद्ध होती कि कहीं हिंसा भी

कर्तव्य हो जाती है और कहीं अहिंसा भी अकर्तव्य हो जाती है? अङ्गच्छेदन पाप है परन्तु बालकों के कर्णछेद आदि में पाप नहीं माना जाता। किसी सती के पीछे कुछ बदमाश पड़े हों तो उसके सतीत्व की रक्षा के लिये झूठ बोलना या उसे छिपा लेना (चोरी) भी अनुचित नहीं है। परविवाहकरण अणुव्रत का दूषण है परन्तु अपनी सन्तान का विवाह करना या व्यभिचार की तरफ झुकने वालों को विवाह का उपदेश देना दूषण नहीं है। परिग्रह पाप है परन्तु धर्मोपकरणों का रखना पाप नहीं है। इस तरह पाँचों ही पाप अपेक्षा भेद से कर्तव्याकर्तव्य रूप हैं। आक्षेपक एक तरफ तो यह कहते हैं कि धर्मविरुद्ध कार्य त्रिकाल में भी धर्मानुकूल नहीं हो सकता परन्तु दूसरी तरफ, त्रिकाल की बात जाने दीजिये एक ही काल में, कहते हैं कि पुनर्विवाह विधवा के लिये धर्मविरुद्ध है और विधुर के लिये धर्मानुकूल है। क्या यहाँ पर एक ही कार्य द्रव्यादि चतुष्टय में से द्रव्यअपेक्षा विविधरूप नहीं कहा गया है। ये ही लोग कहते हैं कि अष्टद्रव्य से जिनपूजन धर्म है, परन्तु भंगी अगर ऐसा करे तो धर्म डूब जायगा। यदि जिनपूजन किसी भी तरह अधर्म नहीं हो सकता तो भंगी के लिये अधर्म क्यों हो जायगा? मतलब यह है कि द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा लेकर एक कार्य को विविधरूप में ये खुद मानते हैं। इसीलिये सप्तम प्रतिमा के नीचे विवाह (भले ही वह विधवाविवाह हो) धर्मानुकूल है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर वह धर्मविरुद्ध है।

आक्षेप (ख)—विवाह क्रिया स्वयं सदा सर्वदा सर्वथा धार्मिक ही है। हाँ! पात्र अपात्र के भेद से उसे धर्मविरुद्ध कह दिया जाता है।

समाधान—जहाँ पात्र (द्रव्य) अपात्र की अपेक्षा है वहाँ सर्वथा शब्द का प्रयोग नहीं होता है। सुधारक यही तो कहते हैं कि द्रव्य (पात्र) क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से किसी कार्य की धर्मानुकूलता या धर्मविरुद्धता का निर्णय करना चाहिये। इसलिये एक पात्र के लिये जो धर्मविरुद्ध है दूसरे के लिये वही धर्मानुकूल हो सकता है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने वाली विधवा का विवाह धर्मविरुद्ध है, अन्य विधवाओं को धर्मानुकूल है। यही तो पात्रादि की अपेक्षा है।

आक्षेप (ग)—सव्यसाची ने विवाह को धर्मानुकूल अर्थात् धार्मिक तो मान लिया। सालभर पहिले तो उसे सामाजिक, सामाजिक चिल्लाते थे।

समाधान—ब्रह्मचर्य प्रतिमा से नीचे कुमार कुमारी और विधवा विधुर के लिये विवाह धर्मानुकूल है—यह मैं सदा से कहता हूँ। परन्तु धर्मानुकूल और धार्मिक एक ही बात नहीं है। व्यापार करना, घूमना, भोजन करना, पेशाब करना आदि कार्य धर्मानुकूल तो हैं परन्तु धार्मिक नहीं हैं। धर्म का अङ्ग होना एक बात है और धर्ममार्ग में बाधक न होना दूसरी बात है।

आक्षेप (घ)—बहुत अनर्थ को रोकने के लिये थोड़ा अनर्थ करने की आज्ञा जैनधर्म नहीं देता।

समाधान—मैं पहिले ही लिख चुका हूँ कि एक अनर्थ को रोकने के लिये दूसरा अनर्थ मत करो परन्तु महान् अनर्थ रोकने के लिये अल्प अनर्थ कर सकते हो। व्यभिचार अनर्थ रोकने के लिये ही तो विवाह अनर्थ किया जाता है। जितने प्रवृत्यात्मक कार्य हैं वे सब अनर्थ या पाप के अंश हैं। जब वे कार्य अधिक अनर्थों को रोकने वाले होते हैं तब वे अनर्थ या पाप शब्द से नहीं कहे जाते। परन्तु हैं तो वे पाप

ही। साधारण पाप की तो बात ही क्या है परन्तु अणुव्रत तक पाप कहा जासकता है (अणुव्रत अर्थात् थोड़ा व्रत अर्थात् बाकी पाप) जब अणुव्रत की यह बात है तब औरों की तो बात ही क्या है ? प्राणदण्ड सरीखा कार्य भी जैनसम्राटों ने अधिक अनर्थों को रोकने के लिये किया है। निर्विकल्प अवस्था के पहिले जितने कार्य हैं वे सब बहु अनर्थों को रोकने वाले थोड़े अनर्थ ही हैं। प्रकृत बात यह है कि विधवाविवाह से व्यभिचार आदि अनर्थों का निरोध होता है इसलिये वह ग्राह्य है।

आक्षेप (ङ)—जो पुण्य है वह सदा पुण्य है। जो पाप है वह सदा पाप है।

समाधान—तब तो पुनर्विवाह, विधुरों के लिये अगर पुण्य है तो विधवाओं के लिये भी पुण्य कहलाया।

आक्षेप (च)—स्वस्त्रीसेवन पाप नहीं, पुण्य है। इसीलिये वह स्वदारसंतोष अणुव्रत कहलाता है।

समाधान—स्वदारसेवन और स्वदारसंतोष में बड़ा अन्तर है। स्वदारसेवन में अस्वदारनिवृत्ति का भाव है। सेवन में सिर्फ़ प्रवृत्ति है। स्वदारसतोष, अणुव्रती के ही होगा। स्वदारसेवन तो अविरत और मिथ्यात्वी भी कर सकता है।

आक्षेप (छ)—अपेक्षाभेद लगाकर तो आप सिद्धों की अपेक्षा स्नातकों (अर्हन्तों) को भी पापी कहेंगे।

समाधान—बकुल आदि की अपेक्षा पुलाक आदि पापी कहे जासकते हैं क्योंकि पुलाक आदि में कषाये हैं। कोई जीव तभी पापी कहला सकता है जब कि उसके कषाय हो। कषायरहित जीव पापी नहीं कहलाता। अर्हन्त कषायातीत हैं।

आक्षेप (ज)—यदि धर्मविरुद्ध कार्य भी ग्राह्य स्वीकार किये जाँय तब त्याज्य कौन से होंगे ?

समाधान—धर्मविरुद्ध कार्य, जिस अपेक्षा से धर्मानु-

कुल सिद्ध होंगे उसी अपेक्षा से ग्राह्य हैं। बाकी अपेक्षाओं से अग्राह्य। प्रत्येक पदार्थ के साथ सप्तभंगी लगाई जासकती है। अगर नास्तिभंग लगाते समय कोई कहे कि प्रत्येक पदार्थ को यदि नास्तिरूप कहोगे तो अस्तिरूप किसे कहोगे? तब इसका उत्तर यही होगा कि अपेक्षान्तर से यही पदार्थ अस्तिरूप भी होगा। इसी प्रकार एक कार्य किसी अपेक्षा से ग्राह्य, किसी अपेक्षा से अग्राह्य है। जो लोग पूर्णब्रह्मचर्य्य का पालन नहीं कर सकते उनको विधवाविवाह ग्राह्य है। पूर्ण ब्रह्मचारियों को अग्राह्य।

बारहवाँ प्रश्न

"छोटे छोटे दुधमुँहे बच्चों का विवाह धर्मविरुद्ध है या नहीं"? इस प्रश्न के उत्तर में हमने ऐसे विवाह को धर्मविरुद्ध कहा था, क्योंकि उसमें विवाह का लक्षण नहीं जाता। जब वह विवाह ही नहीं तो उससे पैदा हुई सन्तान कर्ण के समान नाजायज कहलाई। इसलिये ऐसे नाममात्र के विवाह के हो जाने पर भी वास्तविक विवाह की आवश्यकता है।

आक्षेप (क)—भद्रबाहुसंहितामें लिखा है कि कन्या १२ की और वर सोलह वर्ष का होना चाहिये। इससे कम और अधिक विकार है। (श्रीलाल)

समाधान—भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। दिगम्बर सम्प्रदाय में उनका बनाया हुआ कोई ग्रन्थ नहीं है। उनके दो हजार वर्ष बाद एक अज्ञानी धूर्त ने उनके नाम से एक जाली ग्रन्थ बनाया और उसपर भद्रबाहु की छाप लगादी। खैर, पुराणों में शायद ही कोई विवाह १२ वर्ष की उमर में किया हुआ मिलेगा। धर्मशास्त्र तो यह कहता है कि जितनी अधिक उमर तक ब्रह्मचर्य रहे उतना ही अच्छा। दूसरी बात यह है कि ठीक

बारह वर्ष पूरे होने का नियम पल नहीं सकता। ये पण्डित लोग शारदा बिल के विरोध में कहा करते हैं कि १४ वर्ष की उमर रक्खी जायगी तो साइत न मिलने से १७ वर्ष की उमर होजायगी। परन्तु बारह वर्षके नियमके अनुसार भी तो साइत न मिलने पर १५ वर्षकी उमर होजायगी। पुरुषों के लिये १८ वर्ष से ज़्यादा उमर में विवाह न करने का विधान किया जाय तो विधुर विवाह और बहुविवाह बन्द ही होजायँ, जिसके कि ये पण्डित हिमायती हैं।

आक्षेप (ख)—बालविवाह को धर्मविरुद्ध और नाजायज़ करार देने से स्त्रियाँ छीनी जायँगी (श्रीलाल)

समाधान—स्त्रियाँ छीनी न जायँगी परन्तु उन दोनों को फिर सच्चा विवाह करना पड़ेगा। इससे कोई नाजायज विवाह (बालविवाह) के लिये आयोजन न करेगा।

आक्षेप (ग)—अगर भूल से माता पिता ने बालविवाह कर दिया तो वह टूट नहीं सकता। भूल से विष दे दिया जाय तो भी मरना पड़ेगा, धन चोरी चला जाय तो वह गया ही कहलायगा (श्रीलाल)

समाधान—विष देने पर चिकित्सा के द्वारा उसे हटाने की चेष्टा की जाती है। चोरी होने पर चोर को दण्ड देने की और माल बरामद करने की कोशिश की जाती है। बालविवाह हो जाने पर फिर विवाह करना मानों चोरी का माल बरामद करना है। आक्षेपक के उदाहरण हमारा ही पक्ष समर्थन करते हैं।

आक्षेप (घ)—गांधर्व विवाह का उदाहरण यहां लागू नहीं होता क्योंकि यहाँ ब्राह्मविवाह का प्रकरण है। (श्रीलाल)

समाधान—हमने कहा था कि विवाह में किसी खास विधिकी आवश्यकता नहीं। गांधर्व विवाह में शास्त्रीय विधि

नहीं है फिर भी वह विवाह है। इस दोष का निवारण आक्षेपक न कर सका तो कहता है कि यह ब्राह्मविवाह का प्रकरण है। परन्तु हमारा कहना यह है कि ब्राह्मविवाह के अतिरिक्त बाकी विवाह, आक्षेपक के मतानुसार विवाह हैं कि नहीं? यदि वे विवाह हैं और उनमें किसी खास विधि की आवश्यकता नहीं है तो हमारा यह वक्तव्य सिद्ध हो जाता है कि विवाह में किसी खास विधि की आवश्यकता नहीं है।

आक्षेप (ङ)—छोटी आयुवाली विवाहिता स्त्री से उत्पन्न सन्तान को कर्ण के समान कहना उन्मत्त प्रलाप है।

(श्रीलाल)

समाधान—न्यायशास्त्र की वर्णमाला से शून्य आक्षेपक को यहाँ समानता नहीं दीखती। यह उसकी मूर्खता के ही अनुरूप है। कर्ण के जन्म में यदि कोई दोष था तो यही कि वे अविवाहिता की सन्तान थे। बालविवाह जब विवाह ही नहीं है तब उससे पैदा होने वाली सन्तान अविवाहिता की सन्तान कहलाई इसमें विषमता क्या है?

आक्षेप (च)—दुधमुँहे का अर्थ विवाह के विषय में नासमझ करने से तो शङ्कराचार्य भी दुधमुँहे कहलाये क्योंकि इसी चर्चामें वे मण्डन मिश्र की स्त्री से हारे थे। अगर तत्कालीन समाज उनका विवाह कर देता तो आपकी नजर में नाजायज होता। (विद्यानन्द)

समाधान—अगर शङ्कराचार्य विवाह के विषय में कुछ नहीं जानते थे तो उनका विवाह हो ही नहीं सकता था। समाज जबर्दस्ती उनका विवाह कराने की चेष्टा करती तो वह विवाह तो नाजायज होता ही, साथ ही समाज को भी पाप लगता। विवाह के विषय में शङ्कराचार्य को दुधमुँहा कहना अनुचित नहीं है। न्यायशास्त्र में 'बालानाम् बोधाय' की टीका

में बाल शब्द का यही अर्थ किया जाता है कि जिसने व्याकरण काव्य कोषादि तो पढ़ लिये परन्तु न्याय न पढ़ा हो। इसी तरह विवाह के प्रकरण में भी समझना चाहिये।

इस विषय में आक्षेपक ने शुरू में भी भूल खाई है। वास्तव में शङ्कराचार्य विवाह के विषय में अनभिज्ञ नहीं थे। वे कामशास्त्र में अनभिज्ञ थे और इसी विषय में वे पराजित हुए थे। विवाह में, कामवासना में और कामशास्त्र में बड़ा अंतर है। यह बात आक्षेपक को समझ लेना चाहिये।

आक्षेप (छ)—पहिले गर्भस्थ पुत्रपुत्रियों के भी विवाह होते थे और वे नाजायज़ न माने जाते थे। (विद्यानन्द)

समाधान—इस आक्षेप से तीन बातें ध्वनित होती हैं—(१) पुराने ज़माने में आजकलकी मानी हुई विवाहविधि प्रचलित नहीं थी क्योंकि इस विवाहविधि में कन्या के द्वारा सिद्धमंत्र की स्थापना की जाती है, सप्तपदी होती है, तथा वर कन्या को और भी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं जो गर्भस्थ वर-कन्या नहीं कर सकते। (२) गर्भ में अगर दोनों तरफ पुत्र हों और माता पिता के वचन ही विवाह माने जाँय और वे नाजायज़ न हो सकें तो पुत्र पुत्रों में भी विवाह कहलाया। अथवा यही कहना चाहिये कि वह विवाह नहीं था। माता पिता ने सिर्फ़ सम्भव होने पर विवाह होने की बात कही थी। (३) जब गर्भ में विवाह हो जाता था तब गर्भ में ही लड़की सधवा कहलायी। दुर्योधन और कृष्ण में भी ऐसी बात चीत हुई थी। दुर्योधन के पुत्री उदधिकुमारी हुई जो गर्भ में ही प्रद्युम्न की पत्नी कहलायी। परन्तु प्रद्युम्न का हरण हो गया था इसलिये भानुकुमार के साथ विवाह का आयोजन हुआ। गर्भस्थ विवाह को आक्षेपक नाजायज़ मानते नहीं हैं इसलिये यह उदधिकुमारी के पुनर्विवाह का आयोजन कह-

लाया। इसलिये अब आक्षेपक को या तो बालविवाह नाजायज मानना चाहिये या स्त्री पुनर्विवाह जायज़।

बालविवाह को नाजायज़ सिद्ध करने में किसी ख़ास प्रमाण के देने की ज़रूरत नहीं है। विवाह का लक्षण न जाने से ही वह नाजायज़ हो जाता है।

आक्षेप (ज)—आश्चर्य है कि कर्ण को आप बालविवाह की सन्तान कह कर नाजायज़ कह रहे हैं। वह तो गान्धर्व विवाह की सन्तान होने से नाजायज़ माना गया है।

समाधान—कुछ उत्तर न सूझने पर अपनी तरफ़ से झूठी बात लिखकर उसका खण्डन करने लगना आक्षेपक की आदत मालूम होती है, या आक्षेपक में हमारे वाक्य को समझने की योग्यता नहीं है। हमने कर्ण को अविवाहिता की सन्तान कहा है और बालविवाह में विवाह का लक्षण नहीं जाता इसलिये उसकी सन्तान भी अविवाहिता की सन्तान कहलायी। कर्ण में और बालविवाह की सन्तान में अविवाहितजन्यता की अपेक्षा समानता हुई। इससे कर्ण को बालविवाह की सन्तान समझ लेना आक्षेपक की अक्ल की ख़ूबी है। आक्षेपक को उपमा, उपमेय, उपमान समान धर्म का बिलकुल ज्ञान नहीं मालूम होता।

कर्ण अगर. गान्धर्व विवाह की सन्तान होते तो उन्हें छिपाकर बहा देने की ज़रूरत न होती, अथवा पाँचों पाँडव भी नाजायज़ होते। अगर यह कहा जाय कि कर्ण जन्म के बाद कुन्ती का विवाह किया गया था तो मानना पड़ेगा कि कर्ण-जन्म के पहिले कुन्ती का गान्धर्वविवाह नहीं हुआ, अथवा कर्ण जन्म के बाद उसका पुनर्विवाह हुआ और एक बच्चा पैदा करने पर भी वह कन्या कहलाई। अगर कन्या नहीं कहलाई तो विवाह कैसे हुआ?

आक्षेप (झ)—विवाह का चारित्र मोहनीय के उदय के साथ न तो अन्वय है न व्यतिरेक।

समाधान—यह वाक्य लिखकर आक्षेपक ने अकलङ्काचार्य का विरोध तो किया ही है साथ ही न्यायशास्त्र में असाधारण अज्ञानता का परिचय भी दिया है। आक्षेपक अन्वय व्यतिरेक का स्वरूप ही नहीं समझता। कार्य कारण का जहाँ अविनाभाव बतलाया जाता है वहाँ कारण के सद्भाव में कार्य का सद्भाव नहीं बताया जाता किन्तु कार्य के सद्भाव में कारण का सद्भाव बतलाया जाता है। कारण के सद्भाव में कार्य का सद्भाव हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। चारित्र मोह के उदय (कारण) रहने पर विवाह (कार्य) हो सकता है और नहीं भी हो सकता। अर्थात् व्यभिचार वग़ैरह भी हो सकता है। परन्तु विवाह (कार्य) के सद्भाव में चारित्र मोह का उदय (कारण) तो अनिवार्य है। अगर वह न हो तो विवाह नहीं हो सकता। यह व्यतिरेक भी स्पष्ट है।

चारित्रमोह के उदय का फल संभोग क्रिया का ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो ज्ञानावरण के क्षयोपशम का फल है। चारित्र मोहोदय तो कामलालसा पैदा करता है। अगर उसे परिमित करने के निमित्त मिल जाते हैं तो विवाह हो जाता है, अन्यथा व्यभिचार होता है। आक्षेपक ने यहाँ अपनी आदत के अनुसार अपनी तरफ़ से 'ही' जोड़ दिया है। अर्थात् 'चारित्र मोह का उदय ही' कहकर खण्डन किया है, जब कि हमने 'ही' का प्रयोग ही नहीं किया है। जब चारित्रमोह के उदय के साथ सद्वेद्य की बात भी कही है तब 'ही' शब्द को जबर्दस्ती घुसेड़ना बड़ी भारी धूर्तता है।

अकलङ्कदेव ने सद्वेद्य और चारित्रमोह लिखा है। आक्षेपक ने उसका अभिप्राय निकाला है 'उपभोगान्तराय'।

क्या गज़ब का अभिप्राय है! आक्षेपक के ये शब्द बिलकुल उन्मत्त प्रलाप है—"विवाह साता-वेदनीय और उपभोगान्तराय के क्षयोपशम से होता है—चारित्रमोह के उदय से नहीं, इसीलिये उन्होंने चारित्रमोहोदयात् के पहिले सद्वेद्य पद डाल दिया है।" चारित्रमोह के पहिले सद्वेद्य पद डाल दिया, इससे एक के बदले में दो कारण होगये परन्तु चारित्रमोह का निषेध कैसे हो गया और उसका अर्थ उपभोगान्तराय कैसे बन गया?

आक्षेप (ञ)—विवाह का उपादान कारण चारित्रमोह का उदय नहीं है किन्तु वर वधु है।

समाधान—हमने वहाँ "चारित्रमोह के उदय से होने वाले रागपरिणाम" कहा है। यह परिणाम ही तो विवाह की पूर्व अवस्था है और पूर्व अवस्था को आप स्वयं उपादान कारण मानते है। विस्तृत कामवासना का परिमित कामवासना हो जाना ही विवाह है। आपने उपचार से परिणामी (वर कन्या) को उपादान कारण कह दिया है, परन्तु परिणाम के बिना परिणामी वर कन्या नहीं हो सकते। बालविवाह में वर कन्या होते ही नहीं, दो बच्चे होते है। जब परिणाम नहीं तब परिणामी कैसे? यहाँ आक्षेपक अनिग्रह में अप्रतिभा नामक निग्रह कहकर निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान में जागिरा है।

आक्षेप (ट)—जब आप विवाह के लिये नियत विधि मानते हैं तब उसके बिना विवाह कैसा? नियत विधि शब्दका कुछ ख़याल भी है या नहीं?

समाधान—गांधर्वविवाह को आप विवाह मानते हो। आपकी दृष्टि में भले ही वह अधर्म विवाह हो, परन्तु है तो विवाह ही। इस विवाह में आप भी नियत विधि नहीं मानते फिर भी विवाह कहते है। दूसरी बात यह है कि किसी नियत

विधि का उपयोग करना न करना इच्छा के ऊपर निर्भर है। किसी एक नगर से दूसरे नगर को यात्रा करने के लिये रेलगाड़ी चलती है। इस तरह यात्रियों के लिये रेलगाडी नियत करदी गई है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वहाँ मोटर से, घोड़े से या अपने पैरों से यात्रा नहीं हो सकती। रेलगाडी को यात्रा के साधनों में मुख्यता भले ही देदी जाय परन्तु उसे अनिवार्य नहीं कह सकते। इसी तरह नियत शास्त्रविधिको भले ही कोई मुख्य समझे परन्तु अनिवार्य नहीं कह सकते। अनिवार्य तो चारित्रमोह आदि ही है। रेलगाडी के अभाव में यात्रा के समान विवाह विधि के अभाव में भी विवाह हो सकता है।

आक्षेप (ठ)—प्रद्युम्न को गांधर्वविवाह से पैदा हुआ कहना धृष्टता है। गांधर्वविवाहजात हैं कर्ण, इस से वे नाजायज़ हैं।

समाधान—कर्ण के विषय में हम पहिले लिख चुके हैं और इस प्रश्न के आक्षेप 'छ' के समाधानमें भी लिख चुके है। कर्ण व्यभिचारजात हैं गांधर्वविवाहोत्पन्न नहीं। रुक्मिणी का अगर गांधर्वविवाह नहीं था तो बतलाना चाहिये कि कौन सा विवाह था। प्रारम्भ के चार विवाहों में आप लोग कन्यादान मानते है। रैवतकगिरि के ऊपर कन्यादान किसने किया था? वहाँ तो रुक्मणी, कृष्ण और बलदेव के सिवाय और कोई नहीं था। गांधर्वविवाह में "स्वेच्छया अन्योन्यसम्बन्ध" होता है। रुक्मणी ने भी माता पिता आदि की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा से सम्बन्ध किया था। गांधर्वविवाह व्यभिचार नहीं है जिससे प्रद्युम्न व्यभिचारजात कहला सकें।

यहाँ पर आक्षेपक अपने साथी आक्षेपक के साथ भी भिड़ गया है। विद्यानन्द कहते हैं—गांधर्वविवाह, विवाहविधि

शून्य अधर्म्म विवाह है इस से उत्पन्न संतान मोक्ष नहीं जा- सकती । जबकि श्रीलाल जी कहते हैं—"गांधर्वविवाह भी शास्त्रीय है अतः उससे उत्पन्न संतान क्यों न मोक्ष जाय"। जब दो झूँठे मिलते हैं तब इसी तरह परस्पर विरुद्ध बकते हैं।

तेरहवाँ प्रश्न

क्या सुधारक और क्या बिगाडक आजतक सभी बाल- विवाह को गुड्डा गुड्डी का खेल कहते रहे हैं । हमने ऐसे वर वधू को नाटकीय कहा है । ऐसी हालत में उसका वैधव्य भी नाटकीय रहेगा। वास्तव में तो वह कुमारी ही रहेगी। इस- लिये पत्नीत्व का जबतक अनुभव न हो तब तक वह पत्नी या विधवा नहीं कहला सकती। आक्षेपकों में इतनी अक्ल कहाँ कि वे पत्नीत्व के अनुभव में और सम्भाग के अनुभव में भेद समझ सकें। पहिला आक्षेपक (श्रीलाल) कहता है कि सप्त- पदी हो जाने से ही विवाह होजाता है। परन्तु किसी बालिका से तोते की तरह सप्तपदी रटवा कर कहला देना या उस की तरफ से बोल देना ही तो सप्तपदी नहीं है। सप्तपदी का क्या मतलब है और उससे क्या जिम्मेदारी आ रही है इसका अनु- भव तो होना चाहिये। यही तो पत्नीत्व का अनुभव है। बाल- विवाह में यह बात (यही सप्तपदी) नहीं हो सकती इसलिये उसके हो जाने पर भी न कोई पति पत्नी बनता है न विधवा विधुर। उपर्युक्त पत्नीत्व के अनुभव के बाद और सम्भोग के पहिले वर मर जाय तो वधू विधवा हो जायगी, और उसका विवाह पुनर्विवाह ही कहा जायगा। परन्तु नासमझ अवस्था में जो विवाह-नाटक होता है उससे कोई पत्नी नहीं बनती ।

आक्षेप (क)—विवाह को स्थापना निक्षेपका विषय कहना सचमुच विद्वत्ता का नङ्गा नाच है । तब तो व्यभिचार भी विवाह कहलायगा। (विद्यानन्द)

समाधान—जहाँ विवाह का लक्षण नहीं जाता और फिर भी लोग विवाह की कल्पना करते हैं तो कहना ही पड़ेगा कि वह विवाह स्थापना निक्षेप से है, जैसे कि नाटक में स्थापना की जाती है। आक्षेपक का कहना है कि व्यभिचार में भी स्थापनानिक्षेप से परस्त्री में स्वस्त्री की स्थापना करली जायगी। परन्तु यही बात तो हमारा पक्ष है। स्थापना तो व्यभिचार में भी हो सकती है परन्तु व्यभिचारी वर वधू नहीं कहला सकते। इस तरह नासमझ बालक बालिकाओं में भी वर वधू की स्थापना हो सकती है परन्तु वे वास्तव में वर वधू नहीं कहला सकते।

चौदहवाँ प्रश्न

इस प्रश्न में यह पूछा गया है कि पत्नी बनने के पहिले क्या कोई विधवा हो सकती है और व्रत ग्रहण करने में व्रती के भावों की ज़रूरत है या नहीं? इसका मतलब यह है कि आजकल विवाह-नाटक के द्वारा बहुतसी बालिकाएँ पत्नी बना दी जाती हैं परन्तु वास्तव में वे पत्नी नहीं होतीं। उनको (उस नाटकीय पति के मर जाने पर) विधवा न कहना चाहिये। व्रत ग्रहण करने में भावों की जरूरत है। बालविवाह में विवाहानुकूल भाव ही नहीं होते। इसलिये उस विवाह से कोई किसी तरह की प्रतिज्ञा में नहीं बँधता।

श्रीलाल ने वे ही पुरानी बातें कही हैं, जिसका धव (पति) मर गया है वह विधवा अवश्य कही जायगी आदि। परन्तु यहाँ तो यह कहा गया है कि वह नाटकीय पति वास्तविक पति ही नहीं है। फिर उसका मरना क्या और जीना क्या? उसका पति क्या और पत्यन्तर क्या?

आक्षेप (क)—आठ वर्ष की उमर में जब व्रत लिया

जा सकता है तब ८॥ या ९ वर्ष की उमर में भावपूर्वक विवाह क्यों न माना जावे ? (श्रीलाल)

समाधान—इससे मालूम होता है कि आक्षेपक आठ वर्ष से कम उमर के विवाह को अवश्य ही नाजायज समझता है। खैर, अब हम पूछते हैं कि जब आठ वर्ष में व्रत ग्रहण किया जा सकता है तब आक्षेपक के मनगढन्त शास्त्रकारों ने विवाह के लिये बारह वर्ष की उमर क्यों रक्खी ? आठ वर्ष की क्यों नहीं रक्खी ? इससे मालूम होता है कि साधारण व्रत ग्रहण करने की अपेक्षा वैवाहिक व्रत ग्रहण करने में विशेष योग्यता की आवश्यकता है। अर्थात् परिपुष्ट शरीर, गार्हस्थ्य जीवन के भार सम्हालने की योग्यता और हृदय में उठती हुई वह कामवासना जिसके नियमित करने के लिये विवाह आवश्यक है, अवश्य होना चाहिये। अगर किसी असाधारण व्यक्ति में आठवर्ष की उमर में ही ये बातें पाई जाँय तो वह बालविवाह न कहलायगा, और इन बातों के न होने पर कितनी भी उमर में वह विवाह हो, वह नाजायज कहलायगा। भले ही तुम्हारे मनगढन्त शास्त्रकार १२ वर्ष का राग अलापते रहें।

एक बात यह भी है कि शास्त्रों में आठ वर्ष की उमर में व्रत ग्रहण करने की योग्यता का निर्देश है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि प्रत्येक आठ वर्ष का बालक, मुनि या श्रावक के व्रत ग्रहण कर सकता है, या आठ वर्ष से अधिक उमर में व्रत ग्रहण करने वाला मनुष्य पापी हो जायगा। आठ वर्ष की उमर में केवलज्ञान तक बतलाया है परन्तु क्या इसी लिए हरएक आदमी का इस उमर में केवलज्ञानीत्व मनाया जाने लगे ? कहा जायगा कि अकेली उमर हो जाने से क्या होता है ? अन्य अन्तरङ्ग बहिरङ्ग निमित्त तो मिलना चाहिये। बस ! विवाह के विषय में भी हमारा यही कहना

है कि अकेली उमर हो जाने से क्या होता है, उसके लिये अन्य अन्तरङ्ग वहिरङ्ग निमित्त तो मिलना चाहिये। यदि विवाह के लिये वे निमित्त १४ वर्ष की उमर के पहिले नहीं मिलते तो उसके पहिले होने वाले विवाह (नाटक) नाजायज हैं। इसलिये उन विवाहों के निमित्त से सधवा विधवा शब्द का प्रयोग न करना चाहिये।

आक्षेप (ख)—अमरकोपकार ने पाणिगृहीती को पत्नी कहा है, इसलिये पाणिगृहीता बालिका चाहे वह १ वर्ष की क्यों न हो अवश्य ही पतिवियोग होने पर विधवा कहलायगी। (विद्यानन्द)

समाधान—पाणिगृहीती का अगर शब्दार्थ ही लिया जाय तब तो विवाह नाटक के पहिले ही वे सधवा विधवा कहलाने लगेंगी क्योंकि छोटी २ बालिकाओं के हाथ बाप, भाई और पड़ोसियों के द्वारा पकड़े ही जाया करते हैं। अगर पाणिगृहीती का मतलब विवाहिता है तो माता पिता के द्वारा किसी से हाथ पकड़ा देने ही से बालविवाहिता नहीं कही जासकती है। इसीलिये एक वर्ष की बालिका किसी भी हालत में विधवा या सधवा नहीं कहला सकती। विधवा-विवाह, धार्मिक दृष्टि से व्यभिचार है—इस बात का उत्तर पहिले अच्छी तरह अनेक बार दिया जा चुका है।

आक्षेप (ग)—व्रतग्रहण करने में व्रतीके भावोंकी जरूरत है भी और नहीं भी है। छः वर्ष के बच्चे को पानी छान कर पीने का व्रत दिला दिया और तीस वर्ष के आदमी ने व्रत नहीं लिया। इनमें कौन अच्छा है? क्या उस बच्चे का पुण्य-बन्ध न होगा?

समाधान—आक्षेपक ने 'व्रतग्रहण करने में भावों की

ज़रूरत नहीं है' इसके लिये कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया। छः वर्ष का बच्चा अगर कोई अच्छी क्रिया करता है तो क्या आक्षेपक के मतानुसार वह व्रती है? क्या आचार्यों का यह लिखना कि आठ वर्ष से कम उम्र में व्रत नहीं हो सकता झूठ है? या आक्षेपक ही जैनधर्म से अनभिज्ञ है? छोटे बच्चे में भी कुछ भाव तो होते ही हैं जिससे वह पुण्यबन्ध या पापबन्ध करता है। जब एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीव भाव-रहित नहीं हैं तब यह तो मनुष्य है। परन्तु यहाँ प्रश्न तो यह है कि उसके भाव, व्रतग्रहण करने के लायक होते हैं या नहीं? अर्थात् उसके वे कार्य व्रतरूप हैं या नहीं? हो सकता है कि वह तीस वर्ष के आदमी से भी अच्छा हो, परन्तु इससे वह व्रती नहीं कहला सकता। कल्याणमन्दिर का जो वाक्य (' यस्मात्क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्याः) हमने उद्धृत किया है उसके पीछे समस्त जैनशास्त्रों का बल है। वह हर तरह की परीक्षा से सौ टञ्च का उतरता है। आक्षेपक हमें सिद्धसेन के सदभिप्राय से अनभिज्ञ बतलाते हैं परन्तु वास्तव में आक्षेपक ने स्वयं कल्याणमन्दिर और विषापहार के श्लोकों का भाव नहीं समझा है। दोनों श्लोकों के मार्मिक विवेचन से एक स्वतन्त्र लेख हो जायगा। वास्तव में सिद्ध-सेन का श्लोक भक्तिमार्ग की तरफ़ प्रेरणा नहीं करता किन्तु पण्डित धनञ्जय का श्लोक भक्तिमार्ग की तरफ़ प्रेरणा करता है। उनका मतलब है कि बिना भाव के भी अगर लोग भगवान को नमस्कार करेंगे तो सुधर जायेंगे। सिद्धसेन का श्लोक ऐसी भक्ति को निरर्थक बतलाता है। सिद्धसेन कहते हैं ऐसी भावशून्य भक्ति तो हज़ारों बार की है परन्तु उसका कुछ फल नहीं हुआ। सिद्धसेन के श्लोक में तथ्य है, वह समझदारों के लिये है और धनञ्जय के श्लोक में फुसलाना है। वह

बच्चों (अज्ञानी) के लिये है। बच्चों को फुसलाने की बातों को जैनसिद्धान्त के समझने की कुञ्जी समझना मूर्खता है।

आजकल शायद ही किसी ने भावशून्य क्रिया को व्रत कहने की धृष्टता की हो। जो धर्म शुक्कलेश्याधारी नवमग्रैवेयक जाने वाले मुनि को भी (भावशून्य होने से) मिथ्यादृष्टि कहता है, उसमें भावशून्य क्रिया से व्रत बतलाना अक्षन्तव्य अपराध है।

आक्षेप (च)—यद्यपि समन्तभद्र स्वामी ने अभिप्राय पूर्वक त्याग करना व्रत कहा है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि बाल्यावस्था में दिलाए गये नियम उपनियम सब शास्त्रविरुद्ध हैं। बाल्यावस्था में दिये गये व्रत को अकलङ्क ने जीवन भर पाला। (विद्यानन्द)

समाधान—समन्तभद्र के द्वारा कहे गये व्रत का लक्षण जानते हुए भी आक्षेपक समझते हैं कि बिना भाव के व्रत ग्रहण हो सकता है। इसका मतलब यह है कि वे जाति स्वभाव के अनुसार जैनधर्म और समन्तभद्र के विद्रोही हैं या अपना काम बनाने के लिये जैनी वेष धारण किया है। खैर, बाल्यावस्था के नियम शास्त्रविरुद्ध भले हों न हों परन्तु वे व्रतरूप अवश्य ही नहीं हैं। अकलङ्क के उदाहरण पर तो आक्षेपक ने जरा भी विचार नहीं किया। अकलङ्क अपने पिता से कहते हैं कि जब आपने व्रत लेने की बात कही थी तब वह व्रत आठ दिन के लिये थोड़े ही लिया था, हमने तो जन्मभर के लिये लिया था। इससे साफ मालूम होता है कि व्रत लेते समय अकलङ्क की उमर इतनी छोटी नहीं थी कि व्रत न लिया जासके। उनने भावपूर्वक व्रत लिया था और उसके महत्व को और उत्तरदायित्व को समझा था। क्या यही भावशून्य व्रत का उदाहरण है ?

आक्षेप (ङ)—व्रत दो प्रकार के हैं—निवृत्तिरूप, प्रवृत्तिरूप। शुभकर्म में प्रवृत्ति करना भी व्रत है। यद्यपि बच्चों की शुभकर्म की प्रवृत्ति में कोई भाव नहीं रहता, फिर भी वे व्रती कहे जा सकते हैं। (विद्यानन्द)

समाधान—जब कि व्रत भावपूर्वक होते हैं तब व्रतों के भेद भावशून्य नहीं हो सकते। जीव का लक्षण चेतना, उसके सब भेद प्रभेदों में अवश्य जायगा। जीव के प्रभेद यदि जलचर, थलचर, नभचर हैं तो इससे नौका, रेलगाडी या वायुयान, जीव नहीं कहला सकते, क्योंकि उनमें जीव का लक्षण नहीं जाता। इसलिये भावशून्य कोई कार्य व्रत का भेद नहीं कहला सकता। जो फल फूल या जल भगवान को चढ़ाया जाता है क्या वह व्रती कहलाता है? यदि नहीं, तो इसका कारण क्या भावशून्यता नहीं है? क्या भावशून्य जिनदर्शनादि कार्यों को व्रत कहने वाला एकाध प्रमाण भी आप दे सकते हैं?

आक्षेप (च)—संस्कारों को अनावश्यक कहना जैन सिद्धान्त के मर्म को नहीं समझना है। इधर आप संस्कारों से योग्यता पैदा करने की बात भी कहते हैं। ऐसा परस्परविरुद्ध क्यों कहते हैं? (विद्यानन्द)

समाधान—व्रत और संस्कारों को एक समझ कर आक्षेपक के गुरु ने घोर मूर्खता का परिचय दिया था। हमने दोनों का भेद समझाया था जो कि अब शिष्य ने स्वीकार कर लिया है। व्रत और संस्कार जुदे जुदे हैं इसलिये वे 'संस्कार अनावश्यक हैं' यह अर्थ कहाँ से निकल आया, जिससे परस्परविरोध कहा जासके? आक्षेपक या उसके गुरु का कहना तो यह है कि "कि बाल्यावस्था में भी संस्कार होते हैं इसलिये व्रत कहलाया"। इसी मूर्खता को हटाने के लिये हमने

कहा था कि "संस्कार से हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है और वह प्रभाव प्रायः दूसरों के द्वारा डाला जाता है, परन्तु व्रत दूसरों के द्वारा नहीं लिया जा सकता। संस्कार तो पात्र में श्रद्धा, समझ और त्याग के बिना भी डाले जासकते है परन्तु व्रत में इन तीनों की अत्यन्त आवश्यकता रहती है"। जब व्रत और संस्कार का भेद इतना स्पष्ट है तब बाल्यावस्था में संस्कारोंका अस्तित्व बतलाकर व्रतका अस्तित्व बतलाना मूर्खता और धोखा नहीं तो क्या है? संस्कार आवश्यक भले ही हों परन्तु वे व्रत के भेद नहीं हैं।

आक्षेप(छ)—शुभ कार्य दूसरों के द्वारा भी कराये जा सकते हैं, और उनका फल भी पूरा पूरा होता है। शुभ कार्य में जबरन प्रवृत्ति कराना अधर्म नहीं है। हाँ, यदि कोई विधवा कहे कि मैं तो वैधव्य नहीं लूँगी तब उस पर जबर्दस्ती वैधव्य का 'टीका' मढ़ना भी उचित नहीं है। यदि कोई विधवा कहे कि मेरा विवाह करा दो तो वह भी आगमविरुद्ध है।

समाधान—शुभ कार्य कराये जा सकते है। जो करायगा उसे कदाचित् पुण्यबन्ध भी हो सकता है। परन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि जिससे क्रिया कराई जा रही है वह भावपूर्वक नहीं कर रहा है। यदि कोई कराता है और कोई भावपूर्वक करता है तो उसे पुण्यबन्ध क्यों न होगा? परन्तु यह पुण्यबन्ध भावपूर्वकता का है। ऊपर भी इस प्रश्नका उत्तर दिया जा चुका है।

आप स्वीकार करते है कि अनिच्छापूर्वक वैधव्य का टीका न मढ़ना चाहिये। सुधारक भी इससे ज्यादा और क्या कहते हैं? जब उसे वैधव्य का टीका नहीं लगा तो वह आगमविरुद्ध क्यों?

पन्द्रहवाँ प्रश्न ।

१२, १३, १४ और १५ वें प्रश्न बालविवाहविषयक हैं । इस में बालविवाह का नाजायज विवाह सिद्ध किया गया है । जो लोग सम्यग्दृष्टि हैं वे तो विधवाविवाह के विरोधी क्यों होंगे, परन्तु जो लोग मिथ्यात्व के कारण से विधवाविवाहको ठीक नहीं समझते उन्हें चाहिये कि बालविधवा कहलाती हुई स्त्रियों के विवाह को स्वीकार करें क्योंकि बालविधवाएँ वास्तविक विधवाएँ नहीं हैं । एकबार न्यायशास्त्रके एक सुप्रसिद्ध आचार्य ने (जो कि दिगम्बर जैन कहलाने पर भी तीव्र मिथ्यात्व के उदयसे या अन्य किसी लौकिक कारणसे विधवा-विवाह के विरोधी बन गये हैं) कहा था—कि तुम बड़े मूर्ख हो जो बालविधवाओं को भी विधवा कहते हो । इसी तरह एकबार गोपालदास जी के मुख्य शिष्य और धर्मशास्त्र के बड़े भारी विद्वान् कहलाने वाले पण्डित जी ने भी कहा था—कि 'अक्षतयोनि विधवाओं के विवाह में ना कोई दोष नहीं है' । यहाँ पर भी बालविवाह के विषय में चम्पतराय जी साहब ने जो तनकियाँ उठाई हैं उनके उत्तरों से यही बात साबित होती है । विवाह का सम्बन्ध ब्रह्मचर्याणुव्रत से है । जिनका बाल्यावस्था में विवाह होगया वे ब्रह्मचर्याणुव्रत वाली कैसे कहला सकती हैं ? इसलिये उनका विवाहाधिकार तो कुमारी के समान ही रक्षित है । अगर वे महाव्रत या सप्तम प्रतिमा धारण करें तब तो ठीक, नहीं तो उन्हें विवाह करलेना चाहिये । यद्यपि हम कह चुके हैं कि बालविधवाएँ विधवा नहीं हैं परन्तु कोई विधवा हो या विधुर, कुमार हो या कुमारी, अगर वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा या महाव्रत ग्रहण नहीं करता तो विवाह की इच्छा करने पर विवाह कर लेना अधर्म नहीं है ।

आक्षेप (क)—प्रश्नकर्त्ता का प्रश्न समझ कर तो उत्तर देते। जो मनुष्य ब्रह्मचर्याणुव्रत धारण नहीं करता उस का विवाह करके क्या करोगे ? वह तो माता बहिन को स्त्री समझता है। (श्रीलाल)

समाधान—हमारे उपर्युक्त वक्तव्य को पढ़कर पाठक ही विचारें कि प्रश्न कौन नहीं समझा है। जिसने ब्रह्मचर्यअणुव्रत नहीं लिया है, उसे ब्रह्मचर्यअणुव्रत देने के लिये ही तो विवाह है। इस आक्षेपक ने विवाह को ब्रह्मचर्यव्रत रूप माना है। यहाँ कहना है कि ब्रह्मचर्यव्रतरहित का विवाह क्यों करना अर्थात् ब्रह्मचर्यव्रत क्यों देना ? मतलब यह कि अव्रतीको व्रत देना निरर्थक है ! कैसा पागलपन है !

आक्षेप (ख)—क्या दीक्षा और विवाह यही दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। (विद्यानन्द)

समाधान—जो दीक्षा नहीं लेता और विवाह भी नहीं करता उससे कोई ज़बर्दस्ती नहीं करता। परन्तु उसे विवाह करने का अधिकार है। अधिकार का उपयोग करना न करना उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। उपयोग करने से वह पापी न कहा जायगा।

आक्षेप (ग)—जब आप विधुर विधवा आदि जिस किसी को विवाह करने का अधिकार देते हैं तब तो एक वर्ष की अबोध बच्ची भी विवाह करावें। आपने तो बाल, वृद्ध, अनमेल विवाह की भी पीठ ठोकी। (विद्यानन्द)

समाधान—इससे तो यह बात कही गई है कि वैधव्य, विवाहमें बाधक नहीं है। १ वर्ष की बच्ची का विवाह तो हो ही नहीं सकता यह हम अनेक बार कह चुके हैं। बालविवाह को जैनधर्म और हम विवाह ही नहीं मानते हैं। विवाह के अन्य अन्तरङ्ग बहिरङ्ग निमित्त मिल जाने पर कोई भी विवाह कर

सकता है । हमारा कहना तो यह है कि वैधव्य उसका बाधक नहीं है ।

सोलहवाँ प्रश्न

"जिसका गर्भाशय गर्भधारण के योग्य नहीं हुआ उस को गर्भ रह जाने से प्रायः मृत्यु का कारण होजाता है या नहीं ?" इस प्रश्न के उत्तर में वैद्यक शास्त्र के अनुसार उत्तर दिया गया था । आक्षेपकों को भी यह बात मंजूर है । परन्तु उसके लिये १६ वर्ष की अवस्था की बात नहीं कहते । आक्षेपकों ने इसपर ज़ोर नहीं दिया । हम अपने मूल लेखमें जो कुछ लिख चुके हैं उससे ज़्यादा लिखने की जरूरत नहीं है ।

आक्षेप (क)—सन्तानोत्पादन के लिये हृष्टपुष्टता की आवश्यकता है, उमर की नहीं । (श्रीलाल, विद्यानन्द)

समाधान—सन्तानोत्पादन के लिये हृष्टपुष्टताकी आवश्यकता है और हृष्टपुष्टता के लिये उमर की आवश्यकता है । हाँ, यह बात ठीक है कि उमर के साथ अन्य कारण भी चाहियें । जिनके अन्य कारण बहुत प्रबल हो जाते हैं उनके एक दो वर्ष पहिले भी गर्भ रह जाता है, परन्तु इससे उमर का बन्धन अनावश्यक नहीं होता, क्योंकि ऐसी घटनाएँ लाख में एकाध ही होती हैं । श्रीलाल स्वीकार करते हैं कि कई लोग २०-२४ वर्ष तक भी सन्तानोत्पत्ति के योग्य नहीं होते । यदि यह ठीक है तो श्रीलाल को स्वीकार करना चाहिये कि १२ वर्ष की उमर में विवाह का नियम बनाना या रजस्वला होने के पहिले विवाह कर देना अनुचित है । यदि विवाह और सन्तानोत्पादन के लिये हृष्टपुष्टता का नियम रक्खा जाय तब १२ वर्ष का नियम टूट जाता है और बालविवाह मृत्यु का कारण है—यह बात सिद्ध हो जाती है ।

सत्रहवाँ प्रश्न

"पाँच लाख औरतों में एक लाख तैंतालीस हजार विधवाएँ क्या शोभा का कारण है ?" इसके उत्तर में हमने कहा था कि--"वैधव्य में जहाँ त्याग है वहाँ शोभा है अन्यथा नहीं। जहाँ पुनर्विवाहका अधिकार नहीं, वहाँ उसका त्याग ही क्या ?" इस प्रश्न का उत्तर आक्षेपक नहीं दे सके हैं। श्री लालजी तो तलाक की बात उठा कर यूरोप के नावदान सूँघने लग गये हैं। 'विधवाविवाह वाली ऊँची नहीं हो सकती' उसे आर्यिका बनने का अधिकार नहीं, आदि वाक्यों में कोई प्रमाण नहीं है। हम इसका पहिले विवेचन कर चुके हैं। आगे भी करेंगे।

आक्षेप (क)—विधवा गृहस्थ है, इसलिये वह सौभाग्यवतियों से पूज्य नहीं हो पाती।

समाधान—गृहस्थ तो ब्रह्मचर्यप्रतिमाधारी भी है। फिर भी साधारण लोगों की अपेक्षा उसका विशेष सन्मान होता है। इसी प्रकार विधवाओं का भी होना चाहिये, परन्तु नहीं होता। इसका कारण यही है कि उनका वैधव्य त्यागरूप नहीं है। अगर कोई विधुर विवाहयोग्य होने और विवाह के निमित्त मिलने पर भी विवाह नहीं कराता तो वह प्रशंसनीय होता है। इसी प्रकार पुनर्विवाह न कराने वाली विधवाएँ भी प्रशंसापात्र हो सकती हैं अगर उन्हें पुनर्विवाह का अधिकार हो और वे विवाह योग्य हों तो। हाँ, उन विधुरों की प्रशंसा नहीं होती जो चार पाँच बार तक विवाह करा चुके हैं अथवा विवाह की कोशिश करते २, अन्तमें 'अंगूर खट्टे हैं' की कहावत चरितार्थ करते हुए, अन्तमें ब्रह्मचारी परिग्रहत्यागी आदि बन गये हैं। विवाह की पूर्ण सामग्री मिल जाने पर भी जो

विवाह नहीं कराते वे ही प्रशंसनीय हैं चाहे वे विधुर हों या विधवा।

आक्षेप (ख)—पुनर्विवाह वाली जातियों में वैधव्य शोभा का कारण है। क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि पुनर्विवाह न करने वाली शोभा का कारण और करने वाली अशोभा का कारण है? (विद्यानन्द)

समाधान—उपवास और भूखे मरने का वाह्यरूप एकसा मालूम होता है, परन्तु दोनों में महान् अन्तर है। उपवास स्वेच्छापूर्वक है, इसलिये त्याग है, तप है। भूखों मरना विवशता से है इसलिये वह नारकों सरीखा सक्लेश है। एक समाज ऐसी है जहाँ खान की स्वतन्त्रता है। एक ऐसी है जहाँ सभी को भूखों मरना पड़ता है। पहिली समाज में जो उपवास करते हैं वे प्रशंसनीय होते हैं, परन्तु इसीलिये भूखों मरने वाली समाज प्रशंसनीय नहीं कही जासकती, फिर ऐसी हालत में जब कि भूखों मरने वाले चुरा चुरा कर खाते हों। पुनर्विवाह करने वाली जातिमें वैधव्य प्रशंसनीय है क्योंकि उस में प्राप्य भोगोंका त्याग किया जाता है, पुनर्विवाहशून्य समाज में ऐसी चीज़ों का त्याग कहा जाता है जो अप्राप्य हैं। तब तो गधे के सींग का त्यागी भी बड़ा त्यागी कहा जायगा। जिन जातियों में पुनर्विवाह नहीं होता उनकी सभी स्त्रियाँ (भले ही वे विधवा हों) पुनर्विवाह कराने वाली स्त्रियों से नीची हैं क्योंकि नपुंसक के वाह्य ब्रह्मचर्य के समान उनके वैधव्य का कोई मूल्य नहीं है। सारांश यह कि पुनर्विवाह वाली जातियों की विधवाओं का स्थान पहिला है (उपवासी के समान); पुनर्विवाहिताओं का स्थान दूसरा है (सयताहारी के समान) पुनर्विवाहशून्य जाति की विधवाओं का स्थान तीसरा है (भूखों मरने वालों के समान)।

आक्षेप (ग)—विधुर और विधवाओं का अगर एकसा इलाज हो तो दोनों को शास्त्रकारों ने समान आज्ञा क्यों नहीं दी ? (विद्यानन्द)

समाधान—जैनधर्म ने दोनों को समान आज्ञा दी है। इस विषयमें पहिले विस्तारसे लिखा जा चुका है। देखो '७ घ'।

आक्षेप (घ)—स्त्रीपर्याय पुरुषपर्याय से निंद्य है। इस लिये जो विधवाएँ पुरुषों के समान पुनर्विवाह का अधिकार चाहती हैं, वे पहिले पुरुष बनने के कार्य संयमादिक पालकर पुरुष बनलें। बाद में पुरुषों के समान पुनर्विवाह की अधिकारी बनें। (विद्यानन्द)

समाधान—अगर यह कहा जाय कि "भारतवासी निंद्य हैं इसलिये अगर वे स्वराज्य चाहते हैं तो अंग्रेजों की निस्वार्थ सेवा करके पुण्य कमावें और मरकर अंग्रेजों के घर जन्म लेवें" तो यह जैसी मूर्खता कहलायगी इसी तरह की मूर्खता आक्षेपक के वक्तव्य में है। वर्तमान विधवाएँ अगर मर के पुरुष बन जायेंगी तो क्या परलोक में विधवा बनने के लिये पण्डित लोग अवतार लेंगे? क्या फिर विधवाएँ न रहेंगी? क्या इससे विधवाओं की समस्या हल हो जावेगी? क्या भ्रूणहत्याएँ न होंगी? क्या विपत्तिग्रस्त लोगों की विपत्ति दूर करने का यही उपाय है कि पारलौकिक सम्पत्ति की झूठी आशा से उन्हें मरने दिया जाय? खैर, जिन विधवाओं में ब्रह्मचर्य के परिणाम हैं वे तो पुण्योपार्जन करेंगी परन्तु जो विधवाएँ सदा मानसिक और शारीरिक व्यभिचार करती रहती हैं, भोगों के अभाव में दिनरात रोती हैं और हाय हाय करती हैं, वे क्या पुण्योपार्जन करेंगी? दुःखी जीवन व्यतीत करने से ही क्या पुण्यबन्ध हो जाता है? यदि हाँ, तब सातवें नरक के नारकी को सब से बड़ा तपस्वी कहना चाहिये। यदि

नहीं, तो वर्तमान का वैधव्य जीवन पुण्योपार्जक नहीं कहला सकता।

अठारहवाँ प्रश्न

इस प्रश्न में यह पूछा गया था कि जैनसमाज की संख्या घटने से समाज की हानि है या लाभ? हमने संख्याघटी की बात का समर्थन करके समाज की हानि बतलाई थी। श्रीलाल तो गवर्नमेन्ट की रिपोर्ट का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। किम्वदन्ती के अनुसार कुम्भकर्ण ६ महीने सोता था, परन्तु हमारा यह आक्षेपक कुम्भकर्ण का भी कुम्भकर्ण निकला। यह जन्म से लेकर बुढ़ापे तक सो ही रहा है। खैर, विद्यानन्द ने संख्याघटी की बात स्वीकार करली है। दोनों आक्षेपकों का कहना है कि संख्या घटती है घटने दो, जाति रसातल जाती है जाने दो, परन्तु धर्म को बचाओ! विधवाविवाह धर्म है कि अधर्म—इस बात की यहाँ चर्चा नहीं है। प्रश्न यह है कि संख्या घटने से हानि है या नहीं? यदि है तो उसे हटाना चाहिये या नहीं? हरएक विचारशील आदमी कहेगा कि संख्याघटी रोकना चाहिये। जब विधवाविवाह धर्मानुकूल है और उससे संख्या बढ़ सकती है तो उस उपाय को काम में लाना चाहिये।

आक्षेप (क)—जैनी लोग पापी होगये इसलिये उनकी संख्या घट रही है।

समाधान—बात बिलकुल ठीक है। सैकड़ों वर्षों से जैनियों में पुरुषत्व का मद बढ़ रहा है। इस समाज के पुरुष स्वयं तो पुनर्विवाह करते हैं, और स्त्रियों को रोकते हैं, यह अत्याचार, पक्षपात क्या कम पाप है? इसी पाप के फल से इनकी संख्या घट रही है। पूजा न करने आदि से संख्या घटती तो म्लेच्छों की संख्या न बढ़ना चाहिये थी।

आक्षेप (ख)—मुसलमान लोग तो इसलिये बढ़ रहे हैं कि उन्हें नरक जाना है। और इस निकृष्ट काल में नरक जाने वालों की अधिकता होगी। (श्रीलाल)

समाधान—आप कह चुके हैं कि जैनियों में पापी हो गये इसलिये संख्या घटी। परन्तु इस वक्तव्य से तो यह मालूम होता है कि जैनियों की संख्या पाप से बढ़ना चाहिये जिससे नरकगामी आदमी मिल सकें। इस तरफ के दूत ने यह भी स्वीकार किया है कि "नीच काम करने से नीच को जितना पाप लगता है उससे कई गुणा पाप उच्च को लगता है", अर्थात् जैनियों को ज्यादा पाप लगता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भी जैनियों की संख्या बढ़ना चाहिये क्योंकि इस समाज में पैदा होने से खूब पाप लगेगा और नरक जल्दी भरेगा। एक तरफ पाप से संख्या की घटी बतलाना और दूसरी तरफ पाप से संख्या की वृद्धि बतलाना विचित्र पागलपन है।

आक्षेप (ग)—विधवाविवाह आदि से, प्लेग हैजा आदि से समाज का सफ़ाचट हो जायगा। (श्रीलाल)

समाधान—विधवाविवाह से सफाचट होगा इसका उत्तर तो योरोप अमेरिका आदि की परिस्थिति देगी। परन्तु विधवाविवाह न होने से जैनसमाज सफ़ाचट हो रही है यह तो प्रगट ही है।

आक्षेप (घ)—समाज न रहने का डर वृथा है। जैन-धर्म तो पंचमकाल के अन्त तक रहेगा। (श्रीलाल)

समाधान—विधवाविवाह के न होने से संख्या घट रही है। जैनियों की जिन जातियों में पुनर्विवाह है उनमें संख्या नहीं घट रही है। अगर पुनर्विवाह का रिवाज चालू न होगा तो संख्या नष्ट हो जायगी। परन्तु जैनधर्म का इतना ह्रास तो

नहीं हो सकता इससे सिद्ध है कि विधवाविवाह का प्रचार जरूर होकर रहेगा। अथवा जिन जातियों में विधवाविवाह का रिवाज है वे ही जातियाँ अन्त तक रहेंगी। रही चिन्ता की बात सो जो पुरुष है उसे तो पुरुषार्थ पर ही नजर रखना चाहिये। कोरी भवितव्यता के भरोसे पर बैठकर प्रयत्न से उदासीन न होना चाहिये। तीर्थंकर अवश्य मोक्षगामी होते हैं फिर भी उन्हें मोक्ष के लिये प्रयत्न करना पडता है। इसी तरह जैनधर्म पंचमकाल के अन्त तक अवश्य रहेगा परन्तु उसे तब तक रहने के लिये विधवाविवाह का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

यह छूताछूतविचार का प्रकरण नहीं है। इसका विवेचन कुछ हो चुका है। बहुत कुछ आगे भी होगा।

आक्षेप (ङ)—विधवाविवाह से तो बचे खुचे जैनी नास्तिक हो जावेंगे, कौडी के तीन तीन बिकेंगे। जैनधर्म यह नहीं चाहता कि उसमें संख्यावृद्धि के नाम पर कूडाकचरा भर जाय। (विद्यानन्द)

समाधान—आक्षेपक कूड़ाकचरा का विरोधी है परन्तु विधवाविवाह वालों को कूडाकचरा तभी कहा जासकता है जब विधवाविवाह धर्मविरुद्ध सिद्ध हो। पूर्वोक्त प्रमाणों से विधवाविवाह धर्मानुकूल सिद्ध है इसलिये आक्षेपक की ये गालियाँ निरर्थक हैं। विधवाविवाहोत्पन्न तो व्यभिचारजात है ही नहीं, परन्तु व्यभिचारजातता से भी कोई हानि नहीं है। व्यभिचार पाप है (विधवाविवाह व्यभिचार नहीं है) व्यभिचारजातता पाप नहीं है अन्यथा रविषेणाचार्य ऐसा क्यों लिखते—

चिन्हानि विटजातस्य सन्ति नांगेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचर॥

व्यभिचारजातता के कोई चिन्ह नहीं होते। दुराचार से ही मनुष्य नीच कहलाता है।

यदि व्यभिचारजात शूद्र ही कहलाता है तो रुद्र भी शूद्र कहलाये। जब रुद्र मुनि बनते हैं तब आपको शूद्र मुनि का विधान भी मानना पड़ेगा। तद्भवमोक्षगामी व्यभिचार जात सुदृष्टि सुनार पर विवेचन तो आगे होगा ही।

आक्षेप (च)—जैनधर्म नहीं चाहता कि उसमें संख्या-वृद्धि के नाम पर कूड़ा कचरा भर जाय। यदि ६०८ बढ़ते हैं तो ६०८ मुक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं। जैनधर्म स्वयं अपने में बढ़ी हुई संख्या ६०८ को सिद्धशिला पर सदा के लिये स्थापन कर देता है। (विद्यानन्द)

समाधान—उदाहरण देने के लिये जिस बुद्धिकी आवश्यकता है उस तरह की साधारण बुद्धि भी आक्षेपक में नहीं मालूम होती। आक्षेपक संख्यावृद्धि के नाम पर कूड़ा कचरा न भरने की बात कहते हैं और उदाहरण कूड़ा कचरा भरने का दे रहे हैं। व्यवहारराशि में से छः महीने आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं और नित्यनिगोद से इतने ही जीव बाहर निकलते हैं। जैनधर्म अगर ६०८ जीव सिद्धालय को भेजता है तो उसकी पूर्ति निगोदियों से कर लेता है। अगर जैनधर्म को संख्या घटने की पर्वाह न होती तो वह सिद्धालय जाने वाले जीवों की संख्यापूर्ति निगोदियों सरीखे तुच्छ जीवों से करने को उतारू न हो जाता।

इस उदाहरण से यह बात भी सिद्ध होती है कि जैन-धर्म में कूड़े कचरे को भी फलफूल बनाने की शक्ति है। वह कूड़े कचरे के समान जीवों को भी मुक्त बनाने की हिम्मत रखता है। जैनधर्म उस चतुर किसान के समान है जो गाँव भर के कूड़े कचरे का खाद बनाता है और उससे सफल खेती करता

है। वह मोक्ष भेजने के लिये देवलोक में से प्राणियों को नहीं चुनता बल्कि उस समूह में से चुनता है जिस का अधिक भाग कूड़े कचरे के समान है। खेत में जितनी मिट्टी है उतना अनाज पैदा नहीं होता परन्तु इसीलिये यदि कोई मूर्ख किसान यह कहे कि जितना अनाज पैदा होता है उतनी ही मिट्टी रक्खो बाकी फेंकदो तो वह पागल निष्फल प्रयत्न करेगा। अगर हम चाहते है कि दस लाख सच्चे जैनी हों तो हमें जैन समाज में १०-१२ करोड़ भले बुरे जैनी तैयार रखना पड़ेंगे। उनमें से १० लाख सच्चे जैनी तैयार हो सकेंगे। जैनधर्म तो सिद्धालय भेजने पर भी संख्या की त्रुटि नहीं सहता और हम कुगति और कुधर्म में भेज करके भी संख्यात्रुटि का विचार न करें तो कितनी मूर्खता होगी।

उन्नीसवाँ प्रश्न

जैन समाज में अविवाहितों की काफी संख्या है। इसका कारण बलाद्वैधव्य की कुप्रथा है। जैन समाज में कुमारियों की संख्या १ लाख ८५ हजार ५१४ है जब कि कुमारों की संख्या २ लाख ६ हजार २६५ है। इनमें से ६३२४६ कुमार तो ऐसे हैं जिनकी उमर बीस वर्ष से ज़्यादा है। इस उमर के इने गिने कुमारों को छोड़ कर बाकी कुमार अविवाहित रहने वाले ही हैं। एक तो कुमारियों की संख्या यों ही कम है परन्तु तीन चार वर्ष तक के लड़कों के लिये विवाहयोग्य लड़कियाँ आगे पैदा होंगी इस आशा से कुमारियों की संख्या सन्तोषप्रद मानली जाय तो ६१३७१ विधुर मौजूद हैं। ये भी अपना विवाह कुमारियों से ही करते हैं। फल इसका यह होता है कि ६३२४६ पुरुष बीस वर्ष की उमर के बाद भी कुमार रहते हैं। यदि ये ६१३७१ विधुर विधवाओं से शादी करें तो २० वर्ष से

अधिक उमर के कुमारों की संख्या ६३ हजार से अधिक के स्थान में दो हजार से भी कम रह जाय। जब तक विधवाविवाह की सुप्रथा का प्रचार न होगा तब तक यह विषमता दूर नहीं हो सकती।

अन्तर्जातीय विवाह से भी कुछ सुभीता हो सकता है क्योंकि क़रीब ४२०० कुमारियाँ ऐसी हैं जिनकी उमर २० वर्ष से ज्यादा होगई है परन्तु उनका विवाह नहीं हुआ। छोटी जातियों में योग्य वर न मिलने से यह परिस्थिति पैदा हो गई है। बड़ी जातियों को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अन्तर्जातीय विवाह का प्रचार करने के साथ विधवा विवाह के प्रचार की भी ज़रूरत है क्योंकि विधवाविवाह के बिना अविवाहितों की समस्या हल नहीं होसकती।

श्रीलालजी यह स्वीकार करते हैं कि 'लड़का लड़की समान होते हैं परन्तु लोग अविवाहित इसलिये रहते हैं कि वे ग़रीब हैं'। इस भले आदमी को यह नहीं सूझता कि जब लड़का लड़की समान हैं तो ग़रीबों को मिलने वाली लड़कियाँ कहाँ चली जाती हैं? भले आदमी के लड़के भी तो एक स्त्री रखते हैं। हाँ, इसका कारण यह स्पष्ट है कि विधुर लोग कुमारियों को हजम कर जाते हैं। ऐसे अविवाहित कुमारों की संख्या बहुत ज़्यादा है जिनके पास पच्चीस पचास हजार रुपये की जायदाद भले ही न हो या जो हजार दो हज़ार रुपये देकर कन्या ख़रीदने की हिम्मत न रखते हों फिर भी जो चार आदमियों की गुजर लायक़ पैदा कर लेते हैं। लड़कियाँ को लखपति लेजाँय या करोड़पति ले जाँय परन्तु यह स्पष्ट है कि विवाहयोग्य उमर के ६३ हजार कुमारों को लड़कियाँ नहीं मिल रही हैं। जब इनके लिये लड़कियाँ हैं ही नहीं तब ये लखपति भले ही बन जाँय परन्तु इन्हें अविवाहित रहना

हो पड़ेगा। अगर इनमें से कोई विवाहित हो जायगा तो इसके बदले में किसी दूसरे को अविवाहित रहना पड़ेगा। धन से लड़कियाँ मिल सकती हैं परन्तु धन से लड़कियाँ बन तो नहीं सकतीं। इसलिये जब तक विधवाविवाह की सुप्रथा का प्रचार नहीं होता तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती।

आक्षेप (क)—अविवाहित रहने का कारण तो हमने कर्मोदय समझ रक्खा है। यह (बलाङ्गंधव्य) नया कारण तो आपने खूब ही निकाला। (विद्यानन्द)

समाधान—कर्मोदय तो अन्तरङ्ग कारण है और वह तो ऐसे हर एक कार्य का निमित्त है। परन्तु यहाँ तो बाह्य-कारणों पर विचार करना है। विधवाविवाह का प्रचार भी अपने अपने कर्मोदय के कारण है फिर आप लोग क्यों उसके विरोध में हो हल्ला मचाते हैं? चोरी करना, खून करना, बलात्कार करना आदि अनेक अन्याय और अत्याचारों का निमित्त कर्मोदय है फिर शासनव्यवस्था की क्या आवश्यकता? कर्मोदय से बीमारी हुआ करती है फिर चिकित्सा और सेवा की कुछ जरूरत है कि नहीं? कर्मोदय से लक्ष्मी मिलती है फिर व्यापारादि की आवश्यकता है कि नहीं? मनुष्यभव दैव की गुलामी के लिये नहीं है प्रयत्न के लिये है। इसलिये भले ही कर्म अपनी शक्ति आज़मावे परन्तु हमें तो अपने प्रयत्न से काम लेना चाहिये।

'विधवाविवाह कर लेने पर भी कोई विवाहित न कहलायगा क्योंकि विधवाविवाह में विवाह का लक्षण नहीं जाता' इसका उत्तर हम दे चुके हैं, और विधवाविवाह को विवाह सिद्ध कर चुके हैं।

वीसवाँ प्रश्न

यहाँ यह पूछा गया है कि ये विधवाएँ न होतीं तो संख्यावृद्धि होती या नहीं। बहुत जातियों में विधवाविवाह होता है और सन्तान भी पैदा होती है इसलिये संख्यावृद्धि की बात तो निश्चित है। जहाँ विधवाविवाह नहीं होता वहाँ भ्रूणहत्या आदि से तथा दस्सा विनैकया आदि कहलाने वाली सन्तान पैदा होने से विधवाओं के जननीत्व का पता लगता है। विद्यानन्द जी का यह कहना निरर्थक प्रलाप है कि अगर वे वन्ध्या होतीं तो? वन्ध्या होतीं तो सन्तान न बढ़ती सिर्फ ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन होता। परन्तु जैनसमाज की सब विधवाएँ वन्ध्या हैं इसका कोई प्रमाण नहीं है बल्कि उनके अवन्ध्यापन के बहुत से प्रमाण हैं। श्रीलाल का यह कोरा भ्रम है कि विधवाविवाह वाली जातियों की संख्या घट रही है। कोई भी आदमी—जिसके आँखें हैं—विधवाविवाह और सन्तानवृद्धि की कार्यकारणव्याप्ति का विरोध नहीं कर सकता। रोग से, भूखों मर कर या अन्य किसी कारण से कहीं की मृत्युसंख्या अगर बढ़ जाय तो इस में विधवाविवाह का कोई अपराध नहीं है। उससे तो यथासाध्य संख्या की पूर्ति ही होगी। परन्तु बलाद्वैधव्य से तो संख्या हानि ही होगी।

विधवाविवाह से व्यभिचारनिवृत्ति नहीं होती, इसका खण्डन हम पहिले कई बार कर चुके हैं। कुदृष्टि की चर्चा के लिये अलग प्रश्न है। वहीं विचार किया जायगा।

आक्षेप (क)—माता बहिन आदि से भोग करने में भी सन्तान हो सकती है। (श्रीलाल)

समाधान—जिस दिन माताओं और बहिनों को पुत्र

और भाई को छोड कर दुनियाँ में और कोई पुरुष न मिलेगा और पुरुषों को माँ बहिन छोडकर और कोई स्त्री न मिलेगी, भाई बहिन में और माँ बेटे में गुप्त व्यभिचार की मात्रा बढ जावेगी, भ्रूणहत्याएँ होने लगेंगी, उनकी कामवासना को सीमित करने के लिये और कोई स्थान न रहेगा, उस दिन माँ बेटे और बहिन भाई के विवाह की समस्या पर विचार किया जा सकता है। आक्षेपक विधवाविवाह से बढने वाली संख्या के ऊपर माँ बहिन के साथ शादी करने की बात कह कर जिस घोर निर्लज्जता का परिचय दे रहा है, क्या यह परिचय विधुरविवाह के विषय में नहीं दिया जासकता? सन्तान के बहाने से अपना पुनर्विवाह करने वाले विधुर, अपनी माँ बहिन से शादियाँ क्यों नहीं करते? जो उत्तर विधुरविवाह के लिये है वही उत्तर विधवाविवाह के लिये है।

इस प्रश्न में यह आक्षेपक अन्य प्रश्नों से अधिक लड़खड़ाया है, इसलिये कुछ भी न लिखकर यह असभ्य कथन तथा लँडरा आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

आक्षेप—(ख) अठारहवें प्रश्न में आपने कहा था कि प्रतिवर्ष जैनियों की संख्या ७ हजार घट रही है। अब कहते हैं कि बढ़ रही है। ऐसे हरजाई (रिपोर्ट) का हम विचार नहीं करते। (विद्यानन्द)

समाधान—आपके विश्वास न करने से रिपोर्ट की उपयोगिता नष्ट नहीं होती, न वस्तुस्थिति बदल जाती है। पशु के आँख मींचने से शिकारी का अस्तित्व नहीं मिट जाता। जैनियों की जनसंख्या प्रतिवर्ष सात हज़ार घट रही है परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैनियों के किसी घर में जनसंख्या बढ़ती नहीं है। ऐसे भी घर हैं जिनमें दो से दस आदमी हो गये होंगे परन्तु वे घर कई गुणे हैं जिनमें दस से

दो आदमी ही रह गये हैं। कहीं वृद्धि और कहीं हानि तो होती ही है परन्तु औसतन सात हज़ार हानि का है। किसी किसी जातिमें संख्या बढ़ने से जैन समाज की संख्याहानि का निषेध नहीं किया जा सकता। जिन जातियों में विधवाविवाह का रिवाज है उनमें संख्या नहीं घटती है, या बढ़ती है। साथ ही जिन जातियों में विधवाविवाह का रिवाज नहीं है उनमें इतनी संख्या घटती है कि विधवाविवाह वाली जातियों की संख्या-वृद्धि उस घटी को पूरा नहीं कर पाती।

आक्षेप (ग)—हमारी दृष्टि में तो विधवाविवाह से बढ़ने वाली संख्या निर्जीव है। (विद्यानन्द)

समाधान—इसका उत्तर तो यूरोप अमेरिका आदि देशों के नागरिकों की अवस्था से मिल जाता है। प्राचीनकाल के व्यभिचारजात सुदृष्टि आदि महापुरुष भी ऐसे आक्षेपकों का मुँहतोड़ उत्तर देते रहे हैं। विशेष के लिये देखो (१८ ड)

आक्षेप (घ)—विधुरत्व के दूर करने का उपाय शास्त्रों में है। साध्य के लिये औषध विधान है असाध्य के लिए नहीं। एक ही कार्य कहीं कर्तव्य और सफल होता है, कहीं अकर्तव्य और निष्फल।

समाधान—विधुरत्व और वैधव्य के लिये एक ही विधान है, इस विषय में इस लेख में अनेकबार लिखा जा चुका है। असाध्य के लिये औषध का विधान नहीं है परन्तु असाध्य उसे कहते हैं जो चिकित्सा करने पर भी दूर न हो सके। वैधव्य तो विधुरत्व के समान पुनर्विवाह से दूर हो सकता है, इसलिये वह असाध्य नहीं कहा जा सकता। एक ही कार्य कहीं कर्तव्य और कहीं अकर्तव्य हो जाता है इसलिये कुमार कुमारियों के लिये विवाह कर्तव्य और विधुर विधवाओं के लिये अकर्तव्य होना चाहिये। पुनर्विवाह यदि विधुरों के लिये अकर्तव्य नहीं है

तो विधवाओं के लिये भी अकर्तव्य नहीं कहा जा सकता।

आक्षेप (ङ)—मोक्ष जाने वाले ६०८ जीवों की संख्या में कमी न आजाय इसलिये हम विधवाविवाह का विरोध करते है। (विद्यानन्द)

समाधान—जैनधर्मानुसार छः महीने आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाने का नियम अटल है। उसकी रक्षा के लिये आक्षेपक का प्रयत्न हास्यास्पद है। फिर आक्षेपक जहाँ (भरत-क्षेत्र में) प्रयत्न करता है वहाँ तो मोक्ष का द्वार अभी बन्द ही है। तीसरी बात यह है कि विधवाविवाह से मोक्ष का मार्ग बन्द नहीं होता। शास्त्रों की आज्ञाएँ जो पहिले लिखी जा चुकी हैं और सुदृष्टि का जीवन इस बात के प्रबल प्रमाण हैं।

आक्षेप (च)—सव्यसाची, तुम औरतों की भाँति बिलख बिलख कर क्यों रो रहे हो? तुम्हें औरत कौन कहता है? तुम अपने आप औरत बनना चाहो तो १। डबल के बताशे भेजदो। यहाँ से एक तावीज भेजदिया जायगा। तुम तो न औरत हो न मर्द। सव्यसाची (अर्जुन) नपुंसक हो। (विद्यानन्द)

समाधान—आक्षेपकों को जहाँ अपनी अज्ञानता का मात्राधिक परिचय होगया है वहाँ उनने इसी प्रकार गालियाँ दी है। ये गालियाँ हमने इनके भड़पन की पोल खोलने के लिये नहीं लिखी है परन्तु इनके टुकड़खोरपन को दिखाने के लिये लिखी हैं। आक्षेपक १। पैसे के बताशों मे मुझे स्त्री बना देने को या दुनिया में प्रसिद्ध कर देने को तैयार है। जो लोग १। पैसे में मर्द को स्त्री बनाने के लिये तैयार हैं वे भरपेट रोटियाँ मिलने पर धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म कहने के लिये तैयार हो जायँ तो इसमें क्या आश्चर्य है! जो लोग इन पंडितों को टुकड़ों का गुलाम कहते है वे लोग कुछ नरम शब्दों का

ही प्रयोग करते हैं। आक्षेपक ने ताबीज बाँधने की बात कह-कर अपने गुप्त जीवन का परिचय दिया है। ताबीज़ बाँधने वाले बगुलाभक्त ठगों से पाठक अपरिचित न होंगे। रही नपु-सकता की बात सो यदि कौरवदल को पाप का फल चखाने वाला और उसी भव से मोक्ष जाने वाला अर्जुन नपुंसक है तो ऐसी नपुंसकता गौरव की वस्तु है। उस पर अनन्तपोंगा-पंथियों का पुरुषत्व न्यौछावर किया जा सकता है।

हमने एक जगह लिखा है कि "हमने विधवाविवाह का विरोध करके स्त्रियों के मनुष्योचित अधिकारों को हड़पा इसलिये आज हमें दुनियाँ के सामने औरत बनके रहना पड़ता है। कभी २ एक आदमी के द्वारा 'हम' शब्द का प्रयोग समाज के लिये किया जाता है। यहाँ 'हम' शब्द का अर्थ 'जैनसमाज' स्पष्ट है। परन्तु जब कुछ न बना तो आक्षेपक ने इसी पर गालियाँ देना शुरू कर दीं।

इस तरह के वाक्य तो हम भी आक्षेपक के वक्तव्य में से उद्धृत कर सकते हैं। १८ वें प्रश्न में आक्षेपक ने एक जगह लिखा है कि "हम विधवाओं के लिये तड़प रहे हैं, उन्हें अपनी बनाने के लिये छटपटा रहे हैं।" अब इस आक्षेपक से कोई पूछे कि 'जनाब ! आप ऐसी बदमाशी क्यों कर रहे हैं।'

आक्षेप (छ)—यदि जैनधर्म का सम्बन्ध रक्त मांस से नहीं है तो उसके भक्षण करने में क्या हानि ? (विद्यानन्द)

समाधान—हानि तो मलमूत्र मधुमद्य आदि के भक्षण करने में भी है तो क्या जैनधर्म के लिये इन सब चीज़ों के उपयोग की भी आवश्यकता होगी ? जिसके भक्षण करने में भी हानि है उसको जैनधर्म का आधार स्तम्भ कहना ग़ज़ब का पाण्डित्य है। यहाँ तो आक्षेपक के ऊपर ही एक प्रश्न

खडा होता है कि जब आप रक्त मांस में शुद्धि समझते हैं तो उसके भक्षण करने में क्या दोष ?

आक्षेप (ज)—द्रव्यवेद (स्त्री) पाँचवें तक क्यों ? भाव-वेद नवमें तक क्यों ? क्या यह सब विचार रक्त माँस का नहीं है । (विद्यानन्द)

समाधान—वेद को रक्तमांस समझना भी अद्‌भुत पाण्डित्य है । खैर, यह प्रश्न भी आक्षेपक के ऊपर पडता है कि एक ही माता पिता से पैदा होने वाले भाई बहिन की रक्त-शुद्धि तो समान है फिर स्त्री पाँचवें गुणस्थान तक ही क्यों ? यदि स्त्रियों में रक्त माँस की शुद्धि का अभाव माना जाय तो क्या उनके सहोदर भाइयों से उनकी कुल जाति जुदी मानी जायगी ? और क्या सभी स्त्रियाँ जारज मानी जायँगी ?

आक्षेप (झ)—बिना वज्र वृषभनाराच संहनन के मुक्ति प्राप्त नहीं होती । कहिये शरीर शुद्धि में धर्म है या नहीं ?

समाधान—सहनन को भी रक्त मांस शुद्धि समझना विचित्र पाण्डित्य है । क्या व्यभिचारजातों के वज्र वृषभना-राच संहनन नहीं होता ? क्या मच्छों के वज्र वृषभनाराच सहनन नहीं होता ? यदि होता है तो इन जीवों का शरीर ब्राह्मी सुन्दरी सीता आदि देवियों और पञ्चमकाल के श्रुतकेवली तथा अनेक आचार्यों के शरीर से भी शुद्ध कह-लाया क्योंकि इनके वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं था । कहीं रक्त शुद्धि का अर्थ कुलशुद्धि जातिशुद्धि करना, कहीं सहनन करना विक्षिप्तता नहीं तो क्या ?

आक्षेप (ञ)—सुभग आदि प्रकृतियों के उदय से पुण्यात्मा जीवों के सहनन सस्थान आदि इतने प्रिय होते हैं कि उन्हें छाती से चिपटाने की लालसा होती है ।

(विद्यानन्द)

समाधान—इसीलिये तो शरीर के साथ जैनधर्म का कुछ सम्बन्ध नहीं है। शरीर के अच्छे होने से उसे छाती से चिपटाने की लालसा होती है परन्तु किसी को छाती से चिपटाने से मोक्ष नहीं मिलता, मोक्ष दूर भागता है। धर्म और मोक्ष के लिये तो यह विचार करना पड़ता है कि "पल रुधिर राधमल थैली, कीकस वसादि तें मैली। नवद्वार वहें घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥"

आक्षेप (ट)—जहाँ रक्त मांस की शुद्धि नहीं है, वहाँ धर्मसाधन भी नहीं है, यथा स्वर्ग आदि। (विद्यानन्द)

समाधान—देवों के शरीर में रक्तमांस की शुद्धि नहीं है परन्तु अशुद्धि भी तो नहीं है। यदि शरीर का धर्मसे सम्बन्ध होता तो देवों को मोक्ष बहुत जल्दी मिलता। समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा में तीर्थंकर भगवान को लक्ष्य करके कहा है कि "भगवन्! शारीरिक महत्व तो आपके समान देवों में भी है इसलिये आप महान * नहीं हैं"। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। पहिली तो यह है कि परमात्मा बनने के लिये या परमात्मा कहलाने के लिये शरीर शुद्धि की बात कहना मूर्खता है। दूसरी यह कि देवों का शरीर भी शुद्ध होता है फिर भी वे धर्म नहीं कर पाते। अगर 'रक्त मांस की शुद्धि' शब्द को ही पकड़ा जाय तो भोगभूमिजों के यह शुद्धि होती है, फिर भी वे धर्म नहीं कर पाते हैं। पशुओं के यह शुद्धि नहीं होती किन्तु फिर भी वे इन सबसे अधिक धर्म पंचमगुणस्थान और शुक्ल लेश्या धारण कर लेते हैं। शरीरशुद्धिधारी भोगभूमिज तो सिर्फ चौथा गुणस्थान और पीत लेश्या तक ही धारण कर पाते हैं।

---

* अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः। दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः।

म्लेच्छ और सुदृष्टि के मोक्षगमन तथा पूज्यपाद और रविषेण आदि आचार्यों के प्रमाणों में व्यभिचारजात आदि भी मोक्ष जा सकते हैं यह बात लिखी जा चुकी है।

इक्कीसवाँ प्रश्न।

अल्पसंख्या होने से मुनियों को आहार में कठिनाई होती है। यद्यपि आजकल मुनि नहीं है, फिर भी अगर मुनि हों तो वे सब जगह विहार नहीं कर सकते क्योंकि अनेक प्रान्तों में जैनी है ही नहीं और जहां हैं भी वहां प्रायः नगरों में हो हैं। मुनियों में अगर इतनी शक्ति हो कि वे जहाँ चाहें जाकर नये जैनी बनावें और समाज के ऊपर प्रभाव डालकर उन नये जैनियों को समाज का अङ्ग स्वीकार करावें तो यह समस्या हल हो सकती है। परन्तु हर जगह तुरन्त ही नये जैनी बनाना और उद्दिष्टत्यागपूर्वक उनसे आहार लेना मुश्किल है, इसलिये जैन समाज को बहुसंख्यक होने की आवश्यकता है। विधवाविवाह संख्यावृद्धि में कारण है, इसलिये विधवाविवाह मुनिधर्म के अस्तित्व के लिये भी अन्यतम साधन है।

आक्षेप (क)—जब मार्ग में जैन जनता नहीं तब जो भक्त गृहस्थ अपना काम धन्धा छोड़कर मुनिसेवा में लगें उस के समान दूसरा पुण्य नहीं। मुनियों को हाथ से रोटी बनाकर खाने की सलाह देना धृष्टता है।

समाधान—मुनियों को ऐसी सलाह देना धृष्टता होगी परन्तु ढोंगियों को ऐसी सलाह देना परम पुण्य है। जैनशास्त्रों के अनुसार उद्दिष्टत्याग के बिना कोई मुनि नहीं हो सकता और उद्दिष्टत्याग इसलिये कराया जाता है कि वे आरम्भजन्य हिंसा के पाप से बचें। निमन्त्रण करने में विशेषारम्भ करना पड़ता है। उद्दिष्टत्याग में सामान्य आरम्भ ही रहता है

सामान्य आरम्भ के अतिरिक्त जितना आरम्भ होता था उससे बचने के लिये उद्दिष्टत्याग का विधान है। इस जरासे आरम्भ के बचाने के लिये अगर श्रावकों को घर बदार कर मुनियों के पीछे चलना पड़े और नये नये स्थानों में नये तरह से नया आरम्भ करना पड़े तो यह कौड़ी की रक्षा के नाम पर हाथी की हत्या करना है। दर्जनों कुटुम्बी परदेश में जाकर मुनियों के लिये इतना ज्यादा आरम्भ करें तो इस कार्य को कोई महामूढ़ मिथ्यादृष्टि ही पुण्य समझ सकता है। इसकी अपेक्षा तो मुनि कहलाने वाला व्यक्ति हाथ से पकाके खाले तो ही अच्छा है।

आक्षेप (ख)—अछूतों के हाथ लगने से जल अपेय हो यह अन्धेर नहीं है। · · उपदेश शक्यानुष्ठान का ही होता है। गेहूँ खाद्य है और खात अखाद्य। ····· ·····जिनके हृदय में भङ्गी चमार ब्राह्मण सब एक हों उस मूढ़ की दृष्टि में सब सन्धेर ही रहेगा। (श्रीलाल)

समाधान—पण्डितदल की मूढ़तापूर्ण मिथ्यात्ववर्धक मान्यता के अनुसार शूद्र के स्पर्श से जलाशय का जल भी अपेय होजाता है। इसपर हमने कहा था कि जलाशयों में तो स्वयं शूद्रों से भी नीच जलचर रहते हैं। इसपर आक्षेपक का कहना है कि वह अशक्यानुष्ठान है। खैर! जलाशयों को जलचरों के स्पर्श से बचाना अशक्यानुष्ठान सही परन्तु स्थलचर पशुओं के स्पर्श से बचाना तो शक्य है। फिर स्थलचर पशुओं के स्पर्श से जलाशयों का जल अपेय क्यों नहीं मानते? पशुओं के स्पर्श से अपेय न मानना और मनुष्यों के स्पर्श से अपेय मानना घोर धृष्टता नहीं तो क्या है? इसका स्पष्ट कारण तो यही है कि जिनके आगे तुम जातिमद का नङ्गा नाच कराना चाहते हो उन्हीं के विषय में अस्पृश्यता की बात निकालते हो।

खात का स्पर्श रस गन्ध वर्ण सभी घृणित हैं। उसमें कृमि आदि भी रहते हैं इसलिये वह अखाद्य है। गेहूँ में ये बुराइयाँ नहीं हैं इसलिये खाद्य है। क्या आक्षेपक बतलायगा कि जीवित प्राणियों को निगल जाने वाले मगर मच्छों में तथा अन्य अशुचिभोजी पशुओं में ऐसी कौनसी विशेषता है जिससे वे शूद्रों से भी अच्छे समझे जाते हैं।

हमारे सामने तो ब्राह्मण और शूद्र दोनों बराबर हैं। जो सदाचारी है वही उच्च है। तुम सरीखे सदाचारशत्रुओं और धर्मध्वंसियों में ही सदाचार का कुछ मूल्य नहीं है। तुम लोग शैतान के पुजारी हो इसलिये दुराचारी को इतना घृणित नहीं समझते जितना शूद्र को। हम लोग भगवान महावीर के उपासक हैं इसलिये हमारी दृष्टि में शूद्र भी भाई के समान है। सिर्फ दुराचारी निंद्य है।

आक्षेप (ग)—जब तक शरीर में जीव है तब तक वह हाड मांस नहीं गिना जाता। (श्रीलाल)

समाधान—तब तो शूद्र का शरीर भी हाड मांस न गिना जायगा। फिर उसके हाथ के जल से और उससे छुए हुए जलाशय के जल तक से इतनी घृणा क्यों?

विद्यानन्द ने हमारे लेख में भाषा की गलतियाँ निकालने की असफल चेष्टा की है। हिन्दी में विभक्ति चिन्ह कहाँ लगाना चाहिये, कहाँ नहीं, इसके समझने के लिये आक्षेपक को कुछ अध्ययन करना पड़ेगा। 'खाने नहीं मिलता'—यहाँ 'को' लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर 'को' लगाना ऐसा अनिवार्य हो तो 'मैं जाने भी न पाया कि उसने पकड़ लिया' इस वाक्य में 'जाने' के साथ 'को' लगाना चाहिये और 'जाने को भी न पाया' लिखना चाहिये। 'ज़्यादा' 'ज़्यादह' 'ज़्यादह' 'ज्यादः' इनमें से कौनसा प्रयोग ठीक है इस की मीमांसा

का यह स्थल नहीं है। ऐसी अप्रस्तुत बातों को उठाकर आक्षेपक, अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान में गिर गया है।

आक्षेप (थ)—नोटिसबाजी करते करते किसका दम निकला जाता है। गर्मी की बीमारी मुम्बई में हो सकती है। यहाँ तो नबाबी ठाठ है। (विद्यानन्द)

समाधान—नोटिसबाजी का गर्मी की बीमारी से क्या सम्बन्ध? और गर्मी की बीमारी के अभाव का नवाबीठाठ से क्या सम्बन्ध? ये बीमारियाँ तो नवाबी ठाठ वालों को ही हुआ करती हैं। हाँ, इस वक्तव्य से यह बात जरूर सिद्ध हो जाती है कि आक्षेपक, समाजसेवा की ओट में नवाबी ठाठ से खूब मौज उड़ा रहा है सो जब तक समाज अन्धी और मूढ है तब तक कोई भी उसके माल से मौज उड़ा सकता है।

आक्षेप (ट)—दुनियाँ दूसरों के दोष देखती है परन्तु दिल खोजा जाय तो अपने से बुरा कोई नहीं है।

(विद्यानन्द)

समाधान—क्या इस बात का ख़याल आक्षेपक ने सुधारकों को कोसते समय भी किया है? मुनिवेषियों के विरुद्ध जो हमने लिखा है वह इसलिये नहीं कि हमें कुछ उन गरीब दीन जन्तुओं से द्वेष है। वे बेचारे तो भूख और मान कषाय के सताये हुए अपना पेट पाल रहे हैं और कषाय की पूर्ति कर रहे हैं। ऐसे निकृष्ट जीव दुनियाँ में अगणित हैं। हमारा तो उन सब से माध्यस्थ्य भाव है। यहाँ जो इन ढोंगियों की समालोचना की है वह सिर्फ़ इसलिये कि इन ढोंगियों के पीछे सच्चा मुनिधर्म बदनाम न हो जाय। अनाथविद्या की बीमारी से लोग यों ही मर रहे हैं। इस अपथ्य सेवन से उनकी बीमारी और न बढ़ जाय।

आक्षेप (च (—मुनियों के साथ श्रावक समूह का चलना नाजायज़ मजमा नहीं है।

समाधान—केवली को छोड़कर और किसी के साथ श्रावकसमूह नहीं चलता। हाँ, जब भट्टारकों की सृष्टि हुई और उनमें से जब पिछले भट्टारकों ने धर्मसेवा के स्थान में समाज से पूजा कराना और नवाबी ठाठ से रहना ही जीवन का ध्येय बनाया तब अवश्य ही उनने ऐसी आज्ञाएँ गढ़ डालीं जिससे उन्हें नावबी ठाठ से रहने में सुभीता हो। प्राचीन लोगों के महत्व बढ़ाने के बहाने उनने अपने स्वार्थ की पुष्टि की। पीछे भोले मनुष्यों ने उसे अपना लिया।

आक्षेप (छ)—रोटी तो आठवीं प्रतिमा धारी भी नहीं बनाता। फिर मुनियों से ऐसी बात कहना तो असभ्य जोश की चरम सीमा है। (विद्यानन्द)

समाधान—जिन असभ्य ढोंगियों के लिये रोटी बनाने की बात कही गई है वे मुनि, आठवीं प्रतिमाधारी या पहिली प्रतिमाधारी तो दूर, जैनी भी नहीं है, निकृष्ट मिथ्यादृष्टि हैं। दूसरी बात यह है कि आरम्भ त्याग में आरम्भत्याग तो होना चाहिये। परन्तु ये लोग पेटपूजा के लिये जैसा घोर आरम्भ कराते हैं उसे देखकर एक उद्दिष्टत्यागी तो क्या आरम्भत्यागी भी शरमिन्दा हो जायगा। विशेष के लिये देखो २१-क। अछूत के विषय में २१-ख में विचार किया गया है।

आक्षेप (ज)—मुनियों के लिये अगर केवल अप्रासुक भोजन का ही विचार किया जाता तो मूलाचार आदि में १६ उद्गम दोष और ४६ अन्तराय टालने का विधान क्यों है? (विद्यानन्द)

समाधान—दोष और अन्तराय के भेद प्रभेद जो मूलाचार आदि में गिनाये गये हैं वे तीन बातों को लक्ष्य करके।

१ भोजन अप्रासुक तो नहीं है, २ मुनि को कोई कषाय भोगाकांक्षा आदि तो उत्पन्न नहीं होती है, ३ दाता में दाता के योग्य गुण हैं कि नहीं। भोजन के विषय में तो प्रासुकता के सिवाय और कोई विशेषण डालने की ज़रूरत नहीं है। शूद्र जल से प्रासुकता का भङ्ग होजाता है या कोई और दोष उपस्थित हो जाता है, इस बात का विधान भी मूलाचार में नहीं है। भोज्य के विषय में जितने दोष लिखे गये हैं वे सिर्फ़ इसीलिये कि किसी तरह से वह अप्रासुक तो नहीं है। जातिमद का नङ्गा नाच दिखाने के लिये जल के विषय में अविचारशून्य शर्तें तो इन मदान्ध ढोंगियों की ही हैं। जैनधर्म का इनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

बाईसवाँ प्रश्न।

इस प्रश्नका सम्बन्ध भी बालविवाह से है। इस विषयमें पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषयमें आक्षेपकों का लिखना बिलकुल हास्यास्पद है। अस्तु

आक्षेप (क)—विवाह करके जो ब्रह्मचर्य पालन करे वह अवश्य पुण्य का हेतु है। (श्रीलाल)

समाधान—क्या विवाह के पहिले ब्रह्मचर्य पाप का हेतु है? ब्रह्मचर्य को किसी समय पाप कहना कामकीटता का परिचय देना है।

आक्षेप (ख)—जिनेन्द्र की आज्ञाका भङ्ग करना पाप है। बारहवर्ष में विवाह करने की जिनेन्द्राज्ञा है। (श्रीलाल)

समाधान—जिनेन्द्र, विवाह के लिये कम से कम उमर का विधान कर सकते हैं, परन्तु ज्यादा से ज्यादा उमर का नहीं। १२ वर्ष का विधान जिनेन्द्र की आज्ञा नहीं है। कुछ लेखकों ने समय देखकर ऐसे नियम बनाये हैं, और ये कम से

कम उमर के विधान हैं। अन्यथा १६ वर्ष से अधिक उमर के कुमार का विवाह भी पाप होना चाहिये। ऐसी तुच्छ और ब्रह्मचर्यविरुद्ध आज्ञाओं को जिनेन्द्रकी आज्ञा बतलाना जिनेन्द्रका अवर्णवाद करना है।

आक्षेप (ग)—जो ब्रह्मचर्य भी न ले और संस्कार भी समय पर न करे वह अवश्य पापी है। ब्राह्मी आदिने तो जीवन भर विवाह नहीं किया इसलिये उन का ब्रह्मचर्य पाप नहीं है।
(श्रीलाल)

समाधान—संस्कार, व्रतादि की योग्यता प्राप्त करानेके लिये है। जब मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता तब आंशिक ब्रह्मचर्य के पालन कराने के लिये विवाहकी आवश्यकता होती है। विवाह संस्कार पूर्णब्रह्मचर्य की योग्यता प्राप्त नहीं कराता इसलिये जबतक कोई पूर्णब्रह्मचर्य पालन करना चाहता है तबतक उसे विवाह संस्कार की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रों में ऐसी सैकडों कुमारियों के उल्लेख हैं जिनने बडी उमर में, युवती हो जाने पर विवाह किया है।

विशल्या—विवाह के समय 'शातोदरी दिग्गजकुम्भशोभिस्तनद्वयानूतनयौवनस्था' अर्थात् गजकुम्भके समान स्तनवाली थी। पद्मपुराण ६५—७४।

जयचन्द्रा—सूर्यपुरके राजा शक्रधनुकी पुत्री जयचन्द्रा को अपने रूप और गुणों का बडा घमण्ड था। इसलिये पिता के कहने पर भी उस ने किसी के साथ शादी न कराई। अन्त में वह हरिषेण के ऊपर रीझी और अपनी सखीके द्वारा सोते समय हरिषेण का हरण करा लिया। फिर हरिषेण से विवाह कराया। वैवाहिक स्वातंत्र्य और उमर के बन्धन को न मानने का यह अच्छा उदाहरण है। पद्मपुराण ८ पर्व।

पद्मा—गाना, बजाना सीख रही थी। श्रीकण्ठको देखा तो मोहित होगई और माता पितादि की चोरी से श्रीकण्ठ के साथ चल दी। पिता ने श्रीकण्ठका पीछा किया किन्तु लड़ाई के अवसर पर पद्मा ने कहला दिया कि मैं अपनी इच्छा से आई हूँ, मैं इन्हीं के साथ विवाह करूँगी। अन्तमें पिता चला गया और इसने श्रीकण्ठसे विवाह कर लिया। ६पर्व पद्मपुराण।

अञ्जना—विवाह के समय 'कुंभिकुम्भनिभस्तनी' गज कुम्भके समान स्तन वाली अर्थात् पूर्ण युवती थी। पद्मपुराण १५—१७।

केकया—गाना नाचना आदि अनेक कलाओं में प्रवीण, दशरथ को युद्ध में सहायता देनेवाली केकया का वर्णन जैसा पद्मपुराण २४ वें पर्व में विस्तार से मिलता है वह १२ वर्ष की लड़की के लिए असम्भव है।

आठकुमारियाँ—चन्द्रवर्धन विद्याधर की आठ लडकियाँ। सीता स्वयम्बर के समय इनने लक्ष्मण का मन ही मन वर लिया था परन्तु विवाह उस समय न हो पाया। जब लक्ष्मण रावण से युद्ध कर रहे थे उस समय भी ये लक्ष्मण को देखने पहुंची। युद्ध के बाद विवाह हुआ। ये एक ही माता से पैदा हुई थीं इसलिये अगर छोटी की उमर १२ वर्ष की हो तो बड़ी की उमर १६ की जरूर होगी। फिर सीता स्वयम्बर के समय जिनने मन ही मन लक्ष्मण का वरण किया उसका उस समय विवाह न हुआ, कई वर्ष बाद लङ्काविजय के बाद बिवाह हुआ, उस समय तक उनकी उमर और भी ज्यादा बढ़ गई।

आठ गन्धर्व कन्याएँ—एक ही माता से पैदा हुई इसलिये इनकी उमर में अन्तर था। परन्तु ये एक साथ रामचन्द्र

से विवाही गई। विवाह के योग्य उमर हो जाने पर इच्छित वर के न मिलने से इन्हें वाट देखते रुकना पड़ा।

लङ्कासुन्दरी—हनुमान के साथ इसने घोर युद्ध किया। पद्मपुराण के ५३वें पर्व में इसका चरित्र पढ़ने से इसकी प्रौढ़ता का पता लगता है।

पुराणों में ऐसे सैकड़ों उल्लेख मिलते हैं जिनसे युवती-विवाह का पूर्ण समर्थन होता है। कन्याएँ कोई प्रतिज्ञा कर लेतीं या किसी ख़ास पुरुष को चुन लेतीं जिसके कारण उन्हें वर्षों वाट देखनी पड़ती थी। ऐसी अवस्था में १२ वर्ष की उमर का नियम नहीं हो सकता। कन्याओं के जैसे वर्णन मिलते हैं उनसे भी उनके यौवन और परिपक्वबुद्धिता का परिचय मिलता है जो १२ वर्ष की उमर में असम्भव है।

इन उदाहरणों से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि पुराने समय में कन्या को स्वतन्त्रता थी और उन्हें पति पसंद करने का अधिकार था। इस स्वतन्त्रता और पसन्दगी का विरोध करने वाले शास्त्रविरोधी और धर्मलोपी हैं।

आक्षेप (घ)—यदि ब्रह्मचर्य की इतनी हिमायत करना है तो विधवा के लिये ब्रह्मचर्य का ही विधान क्यों नहीं बनाया जाता?

समाधान—चाहे कुमारियाँ हों या विधवाएँ हों हम दोनों के लिये बलाद् ब्रह्मचर्य और बलाद्विवाह बुरा समझते हैं। जो विधवाएँ ब्रह्मचर्य से रहना चाहें, रहें। जो विवाह करना चाहें, विवाह करें। कुमारियों के लिये भी हमारा यही कहना है। कुमारी और विधवा जब तक ब्रह्मचर्य से रहेंगी तब तक पुण्यबन्ध होगा।

आक्षेप (ङ)—जो लोग यह कहते हैं कि जितना ब्रह्मचर्य पल सके उतना ही अच्छा है वे ब्रह्मचर्य का अर्थ ही

नहीं समझते। ब्रह्मचर्य का अर्थ मजबूरी से मैथुन का अभाव नहीं है किन्तु आत्मा की ओर ऋजु होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। कोई कन्या मनमें किसी सुन्दर व्यक्ति का चिंतवन कर रही है। क्या आप उसे ब्रह्मचारिणी समझते हैं?

(विद्यानन्द

समाधान—कितनी अच्छी बात है! मालूम होता है छिपी हुई सुधारकता असावधानी से छलक पडी है। यही बात तो सुधारक कहते हैं कि विधवाओं के मैथुनाभाव को वे ब्रह्मचर्य नहीं मानते क्योंकि यह विधवाओं को मजबूरी से करना पडता है और यह मजबूरी निरुपाय है। कुमारियों के लिये यह बात नहीं है। उन्हें मजबूरी से ब्रह्मचर्य पालन नहीं करना पड़ता। फिर उनके लिये विवाह का मार्ग खुला हुआ है। विवाहसामग्री रहने पर भी अगर कोई कुमारी विवाह नहीं करती तो उसका कारण ब्रह्मचर्य ही कहा जासकता है। विधवाओं को अगर विवाह का पूर्ण अधिकार हो और फिर भी अगर वे विवाह न करें तो उनका वैधव्य ब्रह्मचर्य कहलायगा।

आक्षेप (च)—सबको एक घाट पानी पिलाना—एक डंडे से हाँकना नीतिविरुद्ध है।

समाधान—एक घाट से पानी पिलाया जाता है और एक डण्डे से बहुत से पशु हांके जाते हैं। जब एक घाट और एक डण्डे से काम चलता है तब उसका विरोध करना फिजूल है। कुमार कुमारी और विधुरों को जिन परिस्थितियों के कारण विवाह करना पडता है वे परिस्थितियाँ यदि विधवा के लिये भी मौजूद है तो वे भी विवाहघाट से पानी पी सकती हैं।

तेईसवाँ प्रश्न।

इस प्रश्न का सम्बन्ध विजातीय विवाह से अधिक है। विजातीय विवाह के विषय में इतना लिखा जा चुका है कि अब जो कुछ लिखा जाय वह सब पिष्टपेषण ही होगा।

आक्षेप (क)—सामन्त कहते हैं कि जातियाँ अनादि हैं। (श्रीलाल विद्यानन्द)

समाधान—जातियाँ दो तरह की हैं—कल्पित, अकल्पित। एकेन्द्रिय आदि अकल्पित जातियाँ हैं। बाकी ब्राह्मण क्षत्रियादि कल्पित जातियाँ हैं। एकेन्द्रिय आदि अकल्पित जातियाँ अनादि हैं। कल्पित जातियाँ अनादि नहीं हैं अन्यथा इनकी रचना ऋषभदेव ने की या भरत ने की—यह बात शास्त्रों में क्यों लिखी होती?

आक्षेप (ख)—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने १२ लाख जातियाँ कही हैं। (श्रीलाल)

समाधान—आक्षेपक अगर किसी पाठशाला में जाकर गोम्मटसार पढ़ले तो वह नेमिचन्द्रको समझने लगेगा। नेमिचन्द्र ने सिर्फ़ पाँच ही जातियों का उल्लेख किया। १२ लाख जातियों का उल्लेख बताने के लिये हम आक्षेपक को चुनौती देते हैं। १२ लाख कोड़ी कुलों का उल्लेख नेमिचन्द्र ने ज़रूर किया है परन्तु उन कुलों को जाति समझ लेना घोर मूर्खता का परिचय देना है। गोम्मटसार टीका में ही कुल भेदों का अर्थ शरीरोत्पादक वर्गणाप्रकार किया गया है। अर्थात् शरीर बनने के लिये जितनी तरह की वर्गणाएँ लगती हैं उतने ही कुल हैं। एक ही योनिसे पैदा होने वाले शरीरोंके कुल लाखों होते हैं क्योंकि योनिभेदसे कुलके भेद लाखों गुणे हैं और एक ही जाति—में चाहे वह कल्पित हो या अकल्पित—लाखों

तरह की योनियाँ होती हैं। इसलिये योनि या कुलको जातियाँ कहदेना बिलकुल मूर्खता है। शास्त्रकारों ने भी योनिभेद और कुलभेदों को जाति नहीं कहा। नारकियों में जातिभेद नहीं है फिर भी लाखों योनियाँ और मनुष्यों की अपेक्षा दुगुने से भी अधिक कुल हैं।

आक्षेप (ग)—कालकी पलटनाके अनुसार जातियोंकी संज्ञायें भी बदल गईं। (विद्यानन्द)

समाधान—तो पुराने नाम मिलना चाहियें या अन्य किसी रूप में इनका उल्लेख होना चाहिये।

आक्षेप (घ)—जाति एक शब्द है, उसका वाच्य अगर गुणरूप है तो अनादि अनन्त है। अगर पर्यायरूप है तो ध्रौव्य क्या है। जो ध्रौव्य है वही जातियों का जीवन है।

(विद्यानन्द)

समाधान—सदृशता को जाति कहते हैं। सदृशता गुण पर्याय आदि सभी में हो सकती है। द्रव्य गुण की सदृशता अनादि है और पर्याय की सदृशता सादि है। वर्तमान जातियाँ (जिनमें विवाह की चर्चा है) तो न गुणरूप हैं न पर्यायरूप। ये तो बिलकुल कल्पित हैं। नामनिक्षेप से अधिक इनका महत्व नहीं है। यदि इनको पर्यायरूप माना जाय तो इनका मूल जीव मानना पड़ेगा। इसलिये आक्षेपक के शब्दानुसार 'जीवत्व' जाति कहलायगी। जीव को एक जाति मान कर उसका पुद्गल धर्म अधर्म से विवाह करने का निषेध किया जाय तो कोई आपत्ति नहीं है।

जिस प्रकार कलकतिया, बंगाली, बिहारी, लखनवी, कानपुरी आदि में अनादित्व नहीं है उसी प्रकार ये जातियाँ हैं।

यदि आक्षेपक का दल इन उपजातियों को अनादि

अनन्त मानता है, छुठे काल में भी ये जातियाँ बनी रहती हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि विजातीय विवाह आदि से इन जातियों का नाश नहीं हो सकता। जब जाति का नाश करना असम्भव है तो उसकी रक्षा करने की चिन्ता मूर्खता है।

आक्षेप (ङ)—अनुमानतः इन जातियों का नवीनत्व असिद्ध है। (विद्यानन्द)

समाधान—भोगभूमियों में जातिभेद नहीं था। ऋषभदेव ने तीन जातियाँ बनाईं। भरत ने चौथी। इससे इतना तो सिद्ध हो गया कि ये भरत के पीछे की हैं। इनके बाद किसी अन्य तीर्थंकरादि ने इनकी रचना की हो ऐसा उल्लेख कहीं नहीं है। हाँ, ऐतिहासिक प्रमाण इतना अवश्य मिलता है कि हुएनसंग के ज़माने में भारत में सिर्फ ३६ जातियाँ थीं और आज क़रीब ४ हजार हैं।

इससे मालूम होता है कि पिछले डेढ़ दो हजार वर्षों में जातियों का ज्वार आता रहा है उसी से ये जातियाँ बनी हैं। जब तक जैनियों का सामाजिक बल रहा तब तक इन जातियों की सृष्टि करने की जरूरत हो ही नहीं सकती थी। बाद में इनकी सृष्टि हुई है।

चौबीसवाँ प्रश्न।

इस प्रश्न में यह पूछा गया था कि विधवाविवाह से इनके कौन कौन अधिकार छिनते हैं। यह बात हमने अनेक प्रमाणों से सिद्ध की है कि इनके कोई अधिकार नहीं छिनते। परन्तु श्रीलाल ने तो बिलकुल पागलपन का परिचय दिया है। यह बात उसके आक्षेपों से मालूम हो जायगी।

आक्षेप (क)—जो अधिकारी होकर अधिकार सम्बन्धी क्रिया नहीं करता वह धिकारी बन जाता है।

समाधान—कोई इस आक्षेपक से पूछे कि तुझे मुनि बनने का अधिकार है या नहीं ? यदि है, तो तू मुनि क्यों नहीं बनता ? अब तुझे धिक्कारी कहना चाहिये ? क्या आक्षेपक इतना भी नहीं समझता कि मनुष्य को धर्म करने का पूर्ण अधिकार है परन्तु धर्म उतना ही किया जासकता है कि जितनी शक्ति होती है । (विशेष के लिये जैनजगत् वर्ष ४ अङ्क ७ में 'योग्यता और अधिकार' शीर्षक लेख देखना चाहिये ।)

"योरुपवाले मांसभक्षी है इसलिये जो हिन्दुस्थानी योरुप जाते है उनका वे अपमान करते है क्योंकि योरुप जाने वाले भारतीय धर्मकर्मशून्य हैं"। श्रीलाल के इन शब्दों के विषय में कुछ कहना वृथा है । भारतीय छूताछूत छोड देते हैं या पोप पण्डितों की आज्ञा में नहीं चलते इसलिये उनका विलायत के लोग अपमान करते हैं, ऐसा कहना जबर्दस्त पागलपन के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

आक्षेप (ख)—सुमुख आदि के दृष्टान्त से व्यभिचार की पुष्टि नहीं होती । वे तो त्याग करके उत्तम गति गये। दानादि करके उत्तमगति पाई । इसमें कौनसा आश्चर्य है ?

(श्रीलाल)

समाधान—धर्म से ही उत्तम गति मिलती है, परन्तु इस सिद्धान्त को तुम लोग कहाँ मानते हो । तुम्हारा तो कहना है कि ऐसा आदमी मुनि नहीं बन सकता, दान नहीं दे सकता, यह नहीं कर सकता, वह नहीं कर सकता । अब तुम यह स्वीकार करते हो कि व्यभिचारी भी दान दे सकता है, मुनि या आर्यिका के व्रत ले सकता है । यही तो हम कहते हैं । विवाह से या व्यभिचार से मोक्ष कोई नहीं मानता। तुम्हारे कहने से भी यह सिद्ध हो जाता है । जैनधर्म के अनु-

मार भी उन जातियों के कोई अधिकार नहीं छिन सकते। सुदृष्टि के लिये अलग प्रश्न है।

विद्यानन्दजी की बहुतसी बातों की आलोचना प्रथम प्रश्न में हो चुकी है।

आक्षेप (ग)—विधवाविवाह की सन्तान कभी मोक्षाधिकारिणी नहीं हो सकती। विष का बीज इसलिये भयङ्कर नहीं है कि वह विष बीज है परन्तु विषवीजोत्पादक होने से भयङ्कर है। (विद्यानन्द)

समाधान—यह विचित्र बात है। विषबीज अगर स्वतः भयङ्कर नहीं है तो उस के खाने में कोई हानि न होनी चाहिये, क्योंकि पेट में जाकर वह विषबीज पैदा नहीं कर सकता। व्यभिचारी तो वास्तविक अपराधी है। उस के तो अधिकार छिने नहीं और उस की निरपराध सन्तान का अधिकार छिन जाय यह अन्धेर नगरी का न्याय नहीं तो क्या है? खैर।

रविषेण आचार्य के कथनानुसार व्यभिचारजात में कोई दूषण नहीं होता। यह हम पहिले लिख चुके हैं। सुदृष्टि के उदाहरण से भी यह बात सिद्ध होती है।

आक्षेप (घ)—सव्यसाची का यह कहना कि "विधवाविवाह तो व्यभिचार नहीं है। उससे किसी के अधिकार कैसे छिन सकते हैं"? यह बात सिद्ध करती है कि व्यभिचार से अधिकार छिनते हैं।

समाधान—हमारी पूरी बात उद्धृत न करके आक्षेपक ने पूरी धूर्तता की है। समाज की आँखों में धूल झोंकना चाहा है। पूरी बात यह है 'व्यभिचारजात सुदृष्टि सुनार ने मुनि दीक्षा ली और मोक्ष गया। यह बात प्रसिद्ध ही है। इससे मालूम होता है कि व्यभिचार से या व्यभिचारजात होने से

किसी के अधिकार नहीं छिनते। विधवाविवाह तो व्यभिचार नहीं है। उससे किसी के अधिकार कैसे छिन सकते हैं?'

पच्चीसवाँ प्रश्न।

जिन जातियों में विधवाविवाह होता है उन में कोई मुनि बन सकता है या नहीं? इसके उत्तरमें दक्षिण की जातियाँ प्रसिद्ध हैं। शांतिसागर की जाति में विधवाविवाह का आम-तौर पर रिवाज है।

आक्षेप (क)—जिन घरानों में विधवाविवाह होता है उन घरानेके पुरुष दीक्षा नहीं लेते। पटैल घरानोंमें विधवाविवाह बिलकुल नहीं होता। कोई खंडेलवाल अगर विधवा विवाह करले तो समग्र खंडेलवाल जाति दूषित नहीं हो सकती।

समाधान—शांतिसागरका झूठापन अच्छी तरह सिद्ध किया जाचुका है। सामना हो जाने पर जैसा वे मुँह छिपाते हैं उससे उनकी कलई बिलकुल खुल जाती है। पटैल घरानेके विषय में लिखा जा चुका है। खुद शान्तिसागर के भतीजे ने विधवाविवाह किया है। यह बात जैनजगत् में सप्रमाण निकल चुकी है।

यह ठीक है कि एक खण्डेलवालके कार्यसे वह जातीय रिवाज नहीं बन जाता है। परन्तु अगर सैकड़ों वर्षोंसे हजारों खण्डेलवाल विधवा-विवाह कराते हों, वे जाति में भी शामिल रहते हों, उनका रोटी बेटी व्यवहार सब जगह होता हो, तब वह रिवाज ही माना जायगा। शान्तिसागर जी की जाति में विधवाविवाह ऐसा ही प्रचलित है।

आक्षेप (ख)—यदि अनधिकारी होकर भी कोई दस्सामुनि बनजाय तो मुनिमार्ग का वह विकृत रूप उपादेय कदापि नहीं हो सकता। (विद्यानन्द)

समाधान—शान्तिसागर का मुनि बनना अगर विरुद्ध रूप है तो दस्सों का मुनि न बनने देने वाले शान्तिसागर को मुनि क्यों मानते हैं ? अगर मुनि मानते हैं तो किसी का मुनि बनने का अधिकार नहीं छिन सकता।

होना और सकना में कार्य कारणभाव है। जहाँ होना है वहाँ सकना अवश्य है। अगर कोई स्वर्ग जाता है तो इससे यह बात आप ही सिद्ध हो जाती है कि वह स्वर्ग जा सकता है। जब शास्त्रों में ऐसे मुनियों के बनने का उल्लेख है, उन्हें मोक्ष तक प्राप्त हुआ है तब उन्हें मुनि बनने का अधिकार नहीं है ऐसा कहना मूर्खता है।

सच्चे शास्त्रोंमें कहीं किसीका कोई अधिकार नहीं छीना गया। अच्छे काम करने का अधिकार कभी नहीं छीना जा सकता। अथवा नरपिशाच राक्षस ही ऐसे अधिकारों को छीनने की गुस्ताखी कर सकते हैं।

छब्बीसवाँ प्रश्न।

विधवाविवाह के विरोधियों का यह कहना है कि उससे पैदा हुई सन्तान मोक्षाधिकारिणी नहीं होती। हमारा कथन यह है कि विधवाविवाह से पैदा हुई सन्तान व्यभिचार-जात नहीं है और मोक्षाधिकारी तो व्यभिचारजात भी होते हैं। आराधना कथा कोष में व्यभिचारजात सुदृष्टि का चरित्र इसका जबर्दस्त प्रमाण है।

आक्षेप (क)—सुदृष्टि स्वयं अपने वीर्य से पैदा हुये थे। (श्रीलाल) विवाहित पुरुष से भिन्नवीर्य द्वारा जो सन्तान हो वह व्यभिचारजात सन्तति है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य इन तीन वर्णों की कोई स्त्री यदि परपुरुषगामिनी हो जाय तो परपुरुषोत्पन्न सन्तान मोक्ष की अधिकारिणी नहीं

है क्योंकि वहाँ कुलशुद्धि का अभाव है। यदि उसी स्त्री के व्यभिचारिणी होने के पहिले स्वपति से कोई सन्तान हो तो वह सन्तति त्रिविध कर्मों का क्षय करने पर मुक्ति प्राप्त कर सकती है। (विद्यानन्द)

समाधान—कोई अपने वीर्य से पैदा हो जाय तो उसकी व्यभिचारजातता नष्ट नहीं हो जाती। कोई मनुष्य वेश्या के साथ व्यभिचार करे और शीघ्र ही मर कर अपने ही वीर्य से उसी वेश्या के गर्भ से उत्पन्न हो जाय तो क्या वह व्यभिचारजात न कहलायगा। विद्यानन्द का कहना है कि पर-पुरुषगामिनी होने के पहिले उत्पन्न हुई सन्तति का मोक्षाधिकार है परन्तु सुदृष्टि की पत्नी तो उसके मरने के पहिले ही परपुरुषगामिनी हो चुकी थी। तब वह मोक्ष क्यों गया? निम्नलिखित श्लोकों से यह बात बिलकुल सिद्ध है कि वह पहिले ही व्यभिचारिणी हो गई थी—

वक्राख्यो दुष्टधीस्तस्या गृहे छात्रः प्रवर्तते।
तेन सार्द्धं दुराचारं सा करोति स्म पापिना॥ ५॥
एकदा विमलायाश्च वाक्यतः सोऽपि वक्रकः।
सुदृष्टिं मारयामास कुर्वन्त कामसेवनम्॥ ६॥

अर्थात् विमला के घर में वक्र नाम का एक बदमाश छात्र रहता था, उस पापी के साथ वह व्यभिचार करती थी। एक दिन विमला के कहने से कामसेवन करते समय उस वक्र ने सुदृष्टि को मार डाला।

इससे मालूम होता है कि सुदृष्टि के मरने के पहिले उसकी स्त्री व्यभिचारिणी हो चुकी थी, सुदृष्टि अपनी व्यभि-चारिणी स्त्री के गर्भ से पैदा होकर मोक्ष गया था। उनके लिये लज्जा आना चाहिये जो हाड माँस में शुद्धि अशुद्धि का विचार करते हैं और जब उन विचारों की पुष्टि शास्त्रों से

नहीं होती तो शास्त्रों की बात को छिपाकर लोगों की आँखों में धूल झोंकते हैं।

आक्षेप (ख)—सुदृष्टि सुनार नहीं था। (श्रीलाल, विद्यानन्द)।

समाधान—पुराने समय में प्रायः जाति के अनुसार ही लोग आजीविका करते थे, इसलिये आजीविका के उल्लेख से उसकी जाति का पता लग जाता है। अगर किसी को चर्मकार न लिखा गया हो परन्तु जूते बनाने का काम लिखा हो, साथ ही ऐसी कोई बात न लिखी हो जिससे वह चमार सिद्ध न हो तो यह मानना ही पड़ेगा कि वह चमार था। यही बात सुदृष्टि की है। उसने रानी का हार बनाया था और मरने के बाद दूसरे जन्म में भी उसने हार बनाया। अगर वह सुनार नहीं था तो (१) पहिले जन्म में वह हार क्यों बनाता था? (२) ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने यह क्यों न लिखा कि वह था तो वैश्य परन्तु सुनार का धन्धा करता था? (३) दूसरे जन्म में जब राजकर्मचारी सब सुनारों के यहाँ चक्कर लगा रहे थे तब अगर वह सुनार नहीं था तो उसके यहाँ क्यों आये?

सुदृष्टि के सुनार होने के काफी प्रमाण हैं। आज से १६ वर्ष पहिले जो इस कथा का अनुवाद प्रकाशित हुआ था और जो स्थितिपालकों के गुरु पं० धन्नालालजी को समर्पित किया गया था उसमें भी सुदृष्टि को सुनार लिखा है। उसकी व्यभिचारजातता पर तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। हाँ, धोखा देने वालों की बात दूसरी है।

सत्ताईसवाँ प्रश्न।

सोमसेन त्रिवर्णाचार को हम प्रमाण नहीं मानते परन्तु

विधवाविवाह के विरोधी पण्डित इसको पूर्ण प्रमाण मानते हैं, यहाँ तक कि उस पक्ष के मुनिवेषी लोग भी उसे पूर्ण प्रमाण मानते हैं। जिस प्रकार कुरान पर अपनी श्रद्धा न होने पर भी किसी मुसलमान को समझाने के लिये कुरान के प्रमाण देना अनुचित नहीं है उसी प्रकार त्रिवर्णाचार को न मानते हुये भी स्थितिपालकों को समझाने के लिये उसके प्रमाण देना अनुचित नहीं है।

त्रिवर्णाचार में दो जगह विधवाविवाह का विधान है और दोनों ही स्पष्ट हैं—

गर्भाधाने पुंसवने सीमन्तोन्नयने तथा।
वधूप्रवेशने रण्डापुनर्विवाहमंडने॥ ८-११६॥
पूजने कुलदेव्याश्च कन्यादाने तथैव च।
कर्मस्वेतेषु वै भार्यां दक्षिणे तूपवेशयेत्॥ ८-११७॥

गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन वधूप्रवेश, विधवा-विवाह, कुलदेवीपूजा और कन्यादान के समय स्त्री को दाहिनी ओर बैठावे।

इस प्रकरण से यह बात बिलकुल सिद्ध हो जाती है कि सोमसेनजी को स्त्री पुनर्विवाह स्वीकृत था। पीछे के लिपि-कारों या लिपिकारकों को यह बात पसन्द नहीं आई इसलिये उनने 'रण्डा' की जगह 'शूद्रा' पाठ कर दिया है। पं० पन्ना-लालजी सोनी ने दोनों पाठों का उल्लेख अपने अनुवाद में किया था परन्तु पीछे से किसी के बहकाने में आकर छपा हुआ पत्र फड़वा डाला और उसके बदले दूसरा पत्र लगवा दिया। अब वह फटा हुआ पत्र मिल गया है जिससे वास्त-विक बात प्रकट हो गई है। दूसरी बात यह है कि इन श्लोकों में मुनिदान, पूजन, अभिषेक, प्रतिष्ठा तथा गर्भाधानादि संस्कारों की बात आई है इसलिये यहाँ शूद्र की बात नहीं

आसकती क्योंकि ग्रन्थकार के मतानुसार शूद्रों को इन कार्यों का अधिकार नहीं है। इसलिये वास्तव में यहाँ 'रण्डा पुनर्विवाह' पाठ ही है जैसा कि प्राचीन प्रतियों से सिद्ध है।

अब ग्यारहवें अध्याय के पुनर्विवाह विधायक श्लोकों को भी देख लेना चाहिये। १७१ वें श्लोक में साधारण विवाह-विधि समाप्त हो गई है परन्तु ग्रन्थकार को कुछ विशेष कहना था सो उनने १७२ वें श्लोक से लगाकर १७७ वें श्लोक तक कहा है। परन्तु दूसरी आवृत्ति में पण्डितों ने १७४ वें श्लोकमे "अथ परमतस्मृतिवचनम्" ऐसा वाक्य और जोड़ दिया जो कि प्रथमावृत्ति में नहीं था। खैर, वे कहीं के हों परन्तु सोमसेनजी उन्हें जैनधर्म के अनुकूल समझते हैं इसलिये उन को उद्धृत करके भी उनका खण्डन नहीं करते। इसीलिये पन्नालाल जी ने १७२ वें श्लोक की उत्थानिका में लिखा है कि—"परमतके अनुसार उस विषयका विशेष कथन करते हैं जिस का जैनमत के साथ कोई विरोध नहीं है।' इसलिये यहाँ जो पाँच श्लोक उद्धृत किये जाते हैं उनके विषयमें कोई यह नहीं कह सकता कि ये तो यहाँ वहाँ के हैं इनसे हमें क्या सम्बन्ध? दूसरी बात यह है कि सोमसेन जी ने यहाँ वहाँ के श्लोकों से यों तो ग्रन्थका आधा कलेवर भर रक्खा है, इसलिये यहाँ वहाँ के श्लोकों के विषय में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि यह रचना दूसरों की है परन्तु मत तो उन्हीं का कहलायगा। खैर, उन श्लोकों को देखिये—

विवाहे दम्पती स्यातां त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणौ।
अलंकृता वधूश्चैव सह शय्यासनाशनौ॥ ११—१७२॥

विवाह होजाने के बाद पति पत्नी तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य से रहें। इस के बाद बधू अलंकृत की जाय और वे दोनों साथ सोवें साथ बैठें और साथ भोजन करें।

वध्वा सहैव कुर्वीत निवासं श्वशुरालये ।
चतुर्थदिनमत्रैव केचिदेवं वदन्ति हि ॥

वर, वधू के साथ ससुराल में ही निवास करे परन्तु कोई कोई कहते हैं कि चौथे दिन तक ही निवास करे।

चतुर्थीमध्ये ज्ञायन्ते दोषा यदि वरस्य चेत् ।
दत्तामपि पुनर्दद्यात् पितान्यस्मै विदुर्बुधाः ॥ ११-१७४

चौथी रात्रि को यदि वरके दोष (नपुंसकत्वादि) मालूम हो जायँ तो पिता को चाहिये कि दी हुई-विवाही हुई-कन्या फिर से किसी दूसरे वर को दे दे अर्थात् उस का पुनर्विवाह करदे ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

प्रवरैक्यादिदोषाः स्युः पतिसङ्गादधो यदि ।
दत्तामपि हरेद्दद्यादन्यस्मा इति केचन ॥ ११-१७५

अगर पतिसङ्गम के बाद मालूम पड़े कि पति पत्नि के प्रवर गोत्रादि की एकता है तो पिता अपनी दी हुई कन्या किसी दूसरे को देदे।

कलौ तु पुनरुद्वाहं वर्जयेदिति गालवः ।
कस्मिंश्चिद्देश इच्छन्ति न तु सर्वत्र केचन ॥ ११-१७६

परन्तु गालव ऋषि कहते हैं कि कलिकालमें पुनर्विवाह न करे और कोई कोई यह चाहते हैं कि कहीं कहीं पुनर्विवाह किया जाय सब जगह न किया जाय।

दक्षिण प्रांतमें पुनर्विवाहका रिवाज होने से भट्टारक जी ने उस प्रान्त के लिये यह छूट चाही है। यों तो उनने पुनर्विवाह को आवश्यक माना है परन्तु यदि दूसरे प्रांत के लोग पुनर्विवाह न चलाना चाहें तो भट्टारक जी किसी किसी प्रान्त के लिये ख़ासकर दक्षिण प्रान्तके लिये आवश्यक समझते हैं। पाठक देखें इन श्लोकों में स्त्रीपुनर्विवाह का कैसा ज़बर्दस्त समर्थन है। यहाँ पर यह कहना कि वह पुरुषों के पुनर्विवाह

का निषेधक है घोर अज्ञानता है। १७४-१७५ वें श्लोकों में कन्या के पुनर्दान या पुनर्विवाह का प्रकरण है। १७६ वें श्लोक में पुनर्विवाह के विषय में कुछ विशेष विधि बतलाई गई है। विशेषविधि सामान्यविधि की अपेक्षा रखती है इसलिये इसका सम्बन्ध ऊपर के दोनों श्लोकों से हो जाता है जिससे कि स्त्रीपुनर्विवाह का विधान है।

'कलौ तु पुनरुद्वाह' 'कलिकाल में तो पुनर्विवाह' यहाँ पर जो 'तु' शब्द पड़ा है वह भी बतलाता है कि इसके ऊपर पुनर्विवाह का प्रकरण रहा है जिसका आंशिक निषेध गालव करते हैं। यह 'तु' शब्द भी इतना जबर्दस्त है कि १७६ वें श्लोक का सम्बन्ध १७५ वें श्लोक से कर देता है और ऐसी हालतमें पुरुष के पुनर्विवाह की बात ही नहीं आती।

दूसरी बात यह है कि पुरुष के पुनर्विवाह का निषेध किसी काल के लिये किसी प्राचीन ऋषि ने नहीं किया। हाँ एक पत्नीके रहते हुए दूसरी पत्नीका निषेध किया है। परन्तु विधुर होजाने पर दूसरी पत्नीका निषेध नहीं किया है न ऐसी पत्नी को भोगपत्नी कहा है। इसलिये भोगपत्नी के निषेध को पुनर्विवाहका निषेध समझ लेना अक्षन्तव्य शाब्दिक अज्ञान है। मतलब यह कि न तो पुरुषों का पुनर्विवाह निषिद्ध है न यहाँ उस का प्रकरण है, जिससे १७६ वे श्लोकका अर्थ बदला जा सके। यह कहना कि हिन्दू ग्रन्थकारों ने विधवाविवाह का कहीं विधान नहीं किया है बिलकुल भूल है। नियोग और विधवाविवाह के विधानोंसे हिन्दू स्मृतियाँ भरी पड़ी है। इस का उल्लेख अमितगति आदि जैन ग्रन्थकारों ने भी किया है।

स्थितिपालक पण्डित १७५ वें श्लोक के 'पतिसङ्गादधो' शब्दों का भी मिथ्या अर्थ करते हैं। पतिसङ्ग शब्द का पाणिपीडन अर्थ करना हद दर्जे की धोखेबाज़ी है। पतिसङ्ग = पति-

—

"सम्भोग" यह सीधा सच्चा अर्थ हरेक आदमी समझता है। १७४ वें श्लोक के चतुर्थी शब्द का भी पाणिपीडन अर्थ किया है और इधर पतिसङ्ग शब्द का भी पाणिपीडन अर्थ किया जाय तो १७५ वाँ श्लोक बिलकुल निरर्थक होजाता है इसलिये यहाँ पर पाणिपीडन अर्थ लोक, शास्त्र और ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से बिलकुल झूठा है।

अधः शब्द का अर्थ है 'पीछे', परन्तु ये पण्डित करते हैं 'पहिले'; परन्तु न तो किसी कोष का प्रमाण देते हैं और न साहित्यिक प्रयोग बतलाते हैं। परन्तु अधः शब्द का अर्थ पीछे या बाद होता है, इसके उदाहरण तो जितने चाहें मिलेंगे। जैसे अधोभक्तं अर्थात् भोजनान्ते पीयमान जलादिकम्–भोजन के अन्त में पिया गया जलादिक। इसी तरह "अधोलिखित श्लोक" शब्द का अर्थ है 'इसके बाद लिखा गया श्लोक' न कि 'इसके पहिले लिखा गया श्लोक'। इसलिये 'पतिसङ्गादधः' शब्द का अर्थ हुआ 'सम्भोग के बाद'। जब सम्भोग के बाद कन्या दूसरे को दी जासकती है तब स्त्रीपुनर्विवाह के विधान की स्पष्टता और क्या होगी?

अगर 'अधः' शब्द का अर्थ 'पहिले' भी कर लिया जाय तो भी १७५ वें श्लोक से स्त्रीपुनर्विवाह का समर्थन ही होता है। 'सम्भोग के पहिले' शब्द का मतलब हुआ सप्तपदी के बाद' क्योंकि सम्भोग सप्तपदी के बाद होता है। यदि सप्तपदी के पहिले तक ही पुनर्दान की बात उन्हें स्वीकृत होती तो वे पतिसङ्ग शब्द क्यों डालते? सप्तपदी शब्द ही डालते। सप्तपदी के होजाने पर विवाह पूर्ण हो जाता है और जब सप्तपदी के बाद पुनर्दान किया जा सकता है तो स्त्रीपुनर्विवाह सिद्ध हो गया।

त्रिवर्णाचार में यदि एकाध शब्द ही स्त्रीपुनर्विवाह-

साधक होता तो बात दूसरी थी, परन्तु उनने तो अनेक प्रकरणों में अनेक तरह से स्त्रीपुनर्विवाह का समर्थन किया है। इस त्रिवर्णाचार में ऐसी बहुत कम बातें है जो जैनधर्म के अनुकूल हों। उन बहुत थोडी बातों में एक बात यह भी है। इसलिये त्रिवर्णाचार के भक्तों का कम से कम विधवाविवाह का तो पूर्ण समर्थक होना चाहिये।

इतना लिखने के बाद जो कुछ आक्षेपकों के आक्षेप रह गये हैं उनका समाधान किया जाता है।

आक्षेप (क)—गालव ऋषि तो पुनर्विवाह का निषेध कर रहे हैं। आप विधान क्यों समझ बैठे? (श्रीलाल, विद्यानन्द)

समाधान—गालव ऋषि ने सिर्फ कलिकाल के लिये पुनर्विवाह का निषेध किया है। इसलिये उनके शब्दों से ही पहिले के युगों में पुनर्विवाह का विधान सिद्ध हुआ। तथा इसी श्लोक के उत्तरार्ध से यह भी सिद्ध होता है कि कोई आचार्य किसी किसी देश के लिये कलिकाल में भी पुनर्विवाह चाहते हैं। इसलिये यह श्लोक विधवाविवाह का समर्थक है।

भोगपत्नी आदि की बातों का खण्डन किया जा चुका है। श्रीलालजी ने जो १७२ वें आदि श्लोकों का अर्थ किया है वह बिलकुल बेबुनियाद तथा उनकी ही पार्टी के पंडित पन्नालाल जी सोनी के भी विरुद्ध है। इन श्लोकों में रजस्वला होने की बात तो एक बच्चा भी न कहेगा।

आक्षेप (ख)—मनुस्मृति में भी विधवाविवाह का निषेध है।

समाधान—आक्षेपक यह बात तो मानते ही है कि हिन्दु शास्त्रों में परस्पर विरोधी कथन बहुत है। इसलिये वहां विधवाविवाह और नियोग का एक जगह जोरदार समर्थन

पाया जाता है तो दूसरी जगह ब्रह्मचर्य की महत्ता के लिये दोनों का निषेध भी पाया जाता है। अगर परिस्थिति की दृष्टि से विचार किया जाय तो इन सबका समन्वय हो जाता है। खैर, मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में विधवाविवाह या स्त्री पुनर्विवाह के काफ़ी प्रमाण पाये जाते हैं। उनमें से कुछ ये हैं—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥
मनुस्मृति ९-१७५ ॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुन संस्कारमर्हति ॥ ९-१७६ ॥

पति के द्वारा छोडी गई या विधवा, अपनी इच्छा से दूसरे की भार्या हो जाय और जो पुत्र पैदा करे वह पौनर्भव कहलायगा। यदि वह स्त्री अक्षतयोनि हो और दूसरे पति के साथ विवाह करे तो उसका पुनर्विवाह सस्कार होगा। (पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति) अथवा अपने कौमार पति को छोडकर दूसरे पति के साथ चली जाय और फिर लौटकर उसी कौमार पति के साथ आजाय तो उनका पुनर्विवाह सस्कार होगा। (यद्वा कौमारं पतिमुत्सृज्यान्यमाश्रित्य पुनस्तमेव प्रत्यागता भवति तदा तेन कौमारेण भर्त्रा पुनविवाहाख्यं संस्कारमर्हति)। यहां पुनर्विवाह को सस्कार कहा है इसलिये यह सिद्ध है कि वह व्यभिचाररूप या निंद्यनीय नहीं है।

हिन्दुशास्त्रों के अनुसार कलिकाल में पाराशरस्मृति मुख्य है। 'कलौ पाराशराः स्मृताः'। पाराशरस्मृति में तो पुनर्विवाह बिलकुल स्पष्ट है—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। ४-३० ॥

पति के खो जाने पर, मर जाने, सन्यासी होजाने, नपुंसक होने तथा पतित होजाने पर स्त्रियों को दूसरा पति कर लेने का विधान है।

पति शब्द का 'पतौ' रूप नहीं होता—यह बहाना निकाल कर श्रीलालजी तथा अन्य लोग 'अपतौ' शब्द निकालते हैं और अपति का अर्थ करते हैं—जिसकी सिर्फ सगाई हुई हो। परन्तु यह कोरा भ्रम है। क्योंकि इस श्लोक को जैनाचार्य श्रीअमितगति ने विधवाविवाह के समर्थन में ही उद्धृत किया है। देखिये धर्मपरीक्षा —

पत्यौ प्रव्रजिते क्लीवे प्रनष्टे पतिते मृते।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ ११–१२ ॥

दूसरी बात यह है कि अगर यहाँ 'अपतौ' निकलता होता तो 'अपतिरन्यो विधीयते' ऐसा पाठ रखना पड़ता जो कि यहाँ नहीं है और न छन्दोभङ्ग के कारण यहाँ अकार निकाला जा सकता है।

तीसरी बात यह है कि अपति शब्द का अर्थ 'जिसकी सिर्फ सगाई हुई हो ऐसा पति' नहीं होता। अपति शब्द के इस अर्थ के लिये कोई नमूना पेश करना चाहिये।

चौथी बात यह है कि पति शब्द के रूप हरि सरीखे भी चलते हैं। क्योंकि पति का अर्थ जहाँ साधारणतः स्वामी, मालिक यह होता है वहाँ समास में ही घि संज्ञा होती है इसलिये वहाँ 'पतौ' ऐसा रूप नहीं बन सकता। परन्तु जहाँ पति शब्द का लाक्षणिक अर्थ पति अर्थात् 'विवाहित पुरुष' अर्थ लिया जाय वहाँ असमास में भी घि संज्ञा हो जाती है जिससे पतौ यह रूप भी बनता है। 'पति समास एव' इस सूत्र की तत्वबोधिनी टीका में खुलासा तौर पर यह बात लिख दी गई है और उसमें पाराशरस्मृति का "पतिते पतौ"

वाला श्लोक भी उद्धृत किया गया है जिससे भी मालूम होता है कि यहाँ 'अपतौ' नहीं है 'पतौ' है। "अथ कथं सीतायाः पतये नमः" इति, 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' इति पाराशरश्च। अत्राहुः पतिमिति आख्यातः पतिः तत्करोति तदाचष्टे इति णिचि टिलोपे अच इः इत्यौणादिकप्रत्यये णेरनिटि इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पतिः "पतिः समासः एव इत्यत्र न गृह्यते, लाक्षणिकत्वादिति"।

पति शब्द के विसंज्ञिक रूपों के और भी नमूने मिलते है तथा वैदिक संस्कृत में ऐसे प्रयोग बहुलता से पाये जाते है। पहिले हम यजुर्वेद के उदाहरण देते है—

नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमः, नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः। १६। १८।

इसी तरह 'कक्षाणां पतये नमः' 'पत्तीनां पतये नमः' आदि बहुत से प्रयोग पाये जाते हैं।

स्वयं पाराशर ने—जिनके श्लोक पर यह विवाद चल रहा है—अन्यत्र भी 'पतौ' प्रयोग किया है। यथा—

जारेण जनयेद्गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ।
तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्॥ १०-३१॥

अर्थात् पति के मर जाने पर या पति से छोड़ी जाने पर जो स्त्री व्यभिचार से गर्भ धारण करे उस पापिनी को देश से निकाल देना चाहिये। अर्थात् पाराशरजी यह नहीं चाहते कि कोई स्त्री व्यभिचार करे। विधवा या पतिहीन स्त्री का कर्तव्य है कि वह पुनर्विवाह करले या ब्रह्मचर्य से रहे, परन्तु व्यभिचार कभी न करे। जो स्त्रियाँ ऊपर से तो विधवाविवाहको या उसके प्रचारकों को गालियाँ देती है और भीतर ही भीतर व्यभिचार करती है वे सचमुच महापापिनी है।

हेमकोष में भी पतौ शब्द का प्रयोग हुआ है । 'धवो धूर्ते नरे पतौ' । यहाँ पर धव और पति शब्द का पर्यायवाची कहा है और पति शब्दका पतौ रूप लिखा है ।

व्यास स्मृति में भी पतये प्रयोग है । 'दासीवादिष्ट-कार्येषु भार्या भर्त्तुः सदा भवेत् । ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य तत् ॥ २-२७ ॥

यहाँ पतिके प्रति भार्याके कर्त्तव्य बतलाये हैं । यहाँ भी सगाई वाला पति अर्थ नहीं किया जा सकता है ।

शशिनीव हिमार्तानां घर्मार्तानां रवाविव ।
मनो न रमते स्त्रीणां जरा जीर्णेन्द्रिये पतौ ॥
मित्रलाभ—हितोपदेश ।

इस श्लोक के अर्थ में अपतौ निकालने की चेष्टा करके श्रीलालजी ने धोखा देने की चेष्टा की है । इतना ही नहीं यहाँ पर भी अपनी आदत के अनुसार उलटा चोर कोतवाल को डाँटे की कहावत चारतार्थ की है । आप कहते है कि 'यहाँ भी सगाई वाले (अपति) बूढ़े दूल्हे की बात है' । ताज्जुब यह है कि यहीं पर यह बात भी कहते जाते हे कि विवाह तो १२-१६ की उम्र में हुआ होगा । जब विवाह के समय वर की उम्र आप १६ बतलाते हैं तब क्या वह जन्म भर तो पति बना रहा और बुढापे में अपति बन गया ? बलिहारी है इस कल्पना की ! खैर, ज़रा यह भी देखिये कि श्लोक किस प्रकरण का है ।

कौशाम्बी में चन्दनदास सेठ रहता था । उसने बुढापे में धनके बलसे लीलावती नामकी एक वणिक्पुत्री से शादी करली, परन्तु लीलावती को उस बूढे से सन्तोष न हुआ, इस-लिये वह व्यभिचारिणी होकर गुप्त पाप करने लगी । इसी मौक़े पर यह श्लोक कहा गया है जिसमें 'पतौ' रूप का प्रयोग

है। अब पाठक ही सोचें कि क्या वह बुड्ढा सगाई वाला दूल्हा था? श्रीलालजी धोखा तो देते ही हैं परन्तु उसके भीतर कुछ मर्यादा रहे तो अच्छा है।

खैर, ये सब प्रमाण इतने ज्यादा जबर्दस्त हैं कि 'पतौ' रूप में किसी को सन्देह नहीं रह सकता। इसलिये पाराशर ने विधवाविवाह का विधान किया है, यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति के प्रमाण दिये गये हैं। आवश्यकता होने पर और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। जैन विद्वान यह कह सकते हैं कि हम हिन्दू स्मृतियाँ नहीं मानते परन्तु उन्हें यह कभी भूलकर भी न कहना चाहिये कि उनमें विधवाविवाहका विधान नहीं है। हिन्दू पुराण और हिन्दू स्मृतियाँ विधवा-विवाह की पूर्ण समर्थक हैं।

आक्षेप (ग)—

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन् हि नियुंजाना धर्मं हन्युः सनातनः॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥

मनुस्मृतिके ये दोनों श्लोक विधवाविवाहके विरुद्ध हैं।

(श्रीलाल)

समाधान—हम कह चुके हैं परिस्थिति के अनुसार अनेक तरह की आज्ञाएँ एक ही स्मृतिमें पाई जाती हैं। इसलिये अगर एक पुस्तक में एक विषय में विधि निषेध है तो उसका समन्वय करने के लिये अपेक्षा ढूँढ़ना चाहिये। अन्यथा जिस मनुस्मृति में स्त्री पुनर्विवाह की आज्ञा है और उसे संस्कार कहा है उसी में उसका विरोध कैसा? स्मृतियों में समन्वय और मुख्यगौणताका बड़ा मूल्य है। खैर, परन्तु इन श्लोकों को तो श्रीलालजीने ठीक ठीक नहीं समझा है अन्यथा ये श्लोक

कभी उद्धृत न किये जाते। पाठक इनके अर्थ पर विचार करें, पूर्वापर सम्बन्ध देखें और नियोग तथा विधवाविवाह के भेद को समझें। ये श्लोक नियोगप्रकरण के हैं।

नियोग में सन्तानोत्पत्ति के लिये सिर्फ एक बार सभोग करने की आज्ञा है। नियोग के समय दोनों में सम्भोग क्रिया बिलकुल निर्लिप्त होकर करना पडती है तथा किसी भी तरह की रसिकता से दूर रहना पडता है। देखिये—

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥९-५८॥

अगर विधवा के सन्तान हो (अनापदि=सन्तानाभाव बिना) तो उसका ज्येष्ठ या देवर नियोग करे तो पतित हो जाते हैं।

देवराद्वा सपिंडाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ९-५९ ॥

सन्तान के नाश होजाने पर गुरुजनों की आज्ञासे विधिपूर्वक देवर से या और सपिंड से (कुटुम्बी से) इच्छित सतान पैदा करना चाहिये। (आवश्यकता होने पर एक से अधिक सन्तान पैदा की जाती है। हिन्दू पुराणों के अनुसार धृतराष्ट्र पांडु और विदुर नियोगज सन्तान हैं)।

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथचन ॥ ९-६० ॥

विधवा में (आवश्यकता होने पर सधवामें भी) सतान के लिये नियुक्त पुरुष, सारे शरीर में घी का लेप करे मौन रक्खे और एक ही पुत्र पैदा करे।

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ९-६२ ॥

नियोग कार्य पूरा हो जाने पर फिर भौजाई या बहू के समान पवित्र सम्बन्ध रक्खे।

नियुक्तौ तौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥६-६३॥

यदि नियोग के समय कामवासना से वह सम्भोग करे तो उसे भौजाई या भ्रातृवधू के साथ सम्भोग करने का पाप लगता है, वह पतित हो जाता है।

पाठक देखें कि यह नियोग कितना कठिन है। साधारण मनुष्य इस विधिका पालन नहीं कर सकते। इसलिये आगे चलकर मनुस्मृति में इस नियोगका निषेध भी किया गया है। वही निषेधपरक श्लोक पंडित लोग उद्धृत करते हैं और विधिपरक श्लोकों को साफ छोड़ जाते हैं।

हिन्दू शास्त्र न तो नियोगके विरोधी है, न विधवाविवाह के। उनमें सिर्फ नियोग का निषेध, कलिकाल के लिये किया है क्योंकि कलियुग में नियोग के योग्य पुरुषों का मिलना दुर्लभ है। यही बात टीकाकारने कही है—"अयं च स्वोक्तनियोग-निषेधः कलिकालविषयः"। बृहस्पति ने तीन श्लोकों में तो और भी अधिक खुलासा कर दिया है। इसलिये हिन्दूशास्त्रोंसे विधवाविवाह का निषेध करना सर्वथा भूल है।

आक्षेप (घ)—चाणिक्यने पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी परन्तु पति के पास जाने की आज्ञा दी है। विदूल लाभे का अर्थ छोड़कर दूसरा पति करने का अर्थ तो इस अन्धेरी दर-बार को ही सूझा।

समाधान—श्रीलालजी जान बूझकर बात को छिपाते हैं अन्यथा "यथादत्तमादाय प्रमुञ्चेयुः" आदि वाक्यों से पूर्व-विवाह सम्बन्ध के टूट जानेका साफ़ विधान है। खैर, पहिली बात तो यह है कि उन वाक्योंका अनुवाद छपी हुई पुस्तक में

से लिया गया है। हमारे विषय में अर्थ बदलने की कुकल्पना आप भले ही करें, परन्तु अनुवादक के विषय में इस कल्पना की कोई ज़रूरत नहीं है। इसके अनुवादक वेदरत्न विद्याभास्कर, न्यायतीर्थ, सांख्यतीर्थ और वेदान्त विशारद हैं।

दूसरी बात यह है कि 'विदॢ लाभे' धातु का प्रयोग विवाह अर्थ में होता है। मनुस्मृति में विन्देत देवरः का पर्याय वाक्य भर्तुः सोदर भ्राता परिणयेत् किया है। इसी तरह श्लोक ९-९० में 'विन्देत सदृश पति' का 'वर स्वयं वृणीत' पर्याय वाक्य दिया है। खुद कौटिलीय अर्थशास्त्र में विदॢ धातु का प्रयोग वरण के अर्थ में हुआ है। जैसे—ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विन्देत अर्थात् पहिली स्त्री से अगर १२ वर्ष तक पुत्र पैदा न हो तो पुत्रार्थी दूसरी शादी करले। यहाँ विन्देत का अर्थ शादी करे ही है। इसी तरह और भी बहुत से प्रयोग हैं। पहिले हमने थोडे से प्रमाण दिये थे, अब हम जरा अधिक देंगे। उन में ऐसे प्रमाण भी होंगे जिनमें विदॢ का अर्थ पास जाना न हो सकेगा।

"मृते भर्त्तरिधर्मकामातदानीमेवास्थाप्याभरणं शुल्क शेषं च लभेत ॥ २५ ॥ लब्ध्वा वा विन्दमाना सवृद्धिकमुभय दाप्येत ॥ २६ ॥ अर्थात् पति के मरने पर ब्रह्मचर्य से रहने वाली स्त्री, अपना स्त्री धन और अवशिष्ट शुल्क (विवाह के समय प्राप्त धन) ले ले। अगर इस धन को प्राप्त कर वह (विधवा) विवाह करे तो उससे ब्याज सहित वापिस ले लिया जाय।

पाठक विचारें कि यहाँ "विन्दमाना" का अर्थ विवाह करने वाली है न कि पति के पास जाने वाली क्योंकि पति तो मर चुका है। और भी देखिये—

'कुटुम्बकामातु श्वसुरपतिदत्त निवेशकाले लभेत ॥२७॥

निवेशकालं हि दीर्घप्रवासे व्याख्यास्यामः ॥२८॥ यदि विधवा दूसरा घर बसाना चाहे अर्थात् पुनर्विवाह करना चाहे तो श्वसुर और पति द्वारा दी हुई सम्पत्ति को वह विवाह समय में ही पा सकती है। विवाह का समय हम दीर्घ प्रवास के प्रकरण में कहेंगे।

इसी दीर्घप्रवास प्रकरण के वाक्य हमने प्रथम लेख में उद्धृत किये थे। इससे मालूम होता है कि वहाँ पुनर्विवाह का ही जिकर है न कि पति के पास जाने का।

"श्वसुर प्रातिलोम्येन वा निविष्टा श्वसुर पतिदत्तं जीयेत" ॥ २९ ॥ श्वसुरकी इच्छाके विरुद्ध विवाह करने वाली वधू से, श्वसुर और पति से दिया गया धन ले लिया जाय।

इससे मालूम होता है कि महाराजा चन्द्रगुप्त के राज्य में श्वसुर अपनी विधवा वधू का पुनर्विवाह कर देता था। अगर श्वसुर उसका पुनर्विवाह नहीं करता था तो वह वधू ही अपना स्त्रीधन छोड़कर पुनर्विवाह कर लेती थी।

ज्ञातिहस्तादभिमृष्टाया ज्ञातयो यथागृहीतं दद्युः ॥ ३० ॥ न्यायोपगतायाः प्रतिपत्ता स्त्रीधनं गोपायेत् ॥३१॥ अगर उसके पीहर वाले (पिता भ्राता आदि) उसके पुनर्विवाह का प्रबन्ध करें तो वे उसके लिये हुए धन को दे दें, क्योंकि न्यायपूर्वक रक्षार्थ प्राप्त हुई स्त्री की रक्षा करने वाला पुरुष उसके धन की भी रक्षा करे।

पतिदायं विन्दमाना जीयेत ॥ ३२ ॥ धर्मकामाभुञ्जीत ॥ ३३ ॥ दूसरे पतिकी कामना वाली स्त्री पतिका हिस्सा नहीं पा सकती और ब्रह्मचर्य से रहने वाली पासकती है।

पुत्रवती विन्दमानास्त्रीधनं जीयेत ॥ ३४ ॥ नतु स्त्रीधन पुत्रा हरेयुः ॥ ३५ ॥ पुत्रभरणार्थं वा विन्दमाना पुत्रार्थं स्फातीं कुर्यात् ॥३६॥ कोई स्त्री पुत्र वाली होकरके भी अगर पुनर्विवाह

करे तो वह स्त्री धन नहीं पासकती। उसका स्त्री धन उसके पुत्र ले लें। अगर पुत्रोंके भरण पोषण के लिये ही वह पुनर्विवाह करे तो वह अपनी सम्पत्ति पुत्रोंके नाम लिख दे।

हम नहीं समझते कि इन प्रकरणों में कोई पुनर्विवाहका विधान न देखकर पति के पास जाने का विधान देख सकेगा। इस ग्रन्थ में परदेश में गये हुए दीर्घप्रवासी पति को तो छोड़ देने का विधान है, उसके पास जाने की तो बात दूसरी है।

नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्बिषी।

प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपिवा पतिः।

नीच, दीर्घप्रवासी, राजद्रोही, घातक, पतित और नपुंसक पतिको स्त्री छोड़ सकती है। हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि श्रीलालजी या उनके साथी किसी भी विषय का न तो गहरा अध्ययन करते हैं न पूर्वापर सम्बन्ध देखते हैं और मनमाना बिलकुल बेबुनियाद लिख मारते हैं। खैर, अब हम ह्रस्वप्रवास और दीर्घप्रवास के उद्धरण देते हैं जिनके कुछ अंश पहिले लेख में दिये जा चुके हैं।

'ह्रस्वप्रवासिनां शूद्र वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मणानां भार्याः संवत्सरोत्तर कालमाकांक्षेरन्नप्रजाता, संवत्सराधिकंप्रजाताः॥२६॥ प्रतिविहिताद्विगुणं कालं॥२७॥ अप्रतिविहिता सुखावस्था बिभृयुः पर चत्वारिवर्षाण्यष्टौ वाज्ञातय.। ततो यथादत्तमादाय प्रमुञ्चेयुः॥ २८॥

थोड़े समय के लिये बाहर जाने वाले शूद्र वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मणों की स्त्रियाँ अगर पुत्रहीन हों तो एक वर्ष और पुत्रवती इससे अधिक समय तक प्रतीक्षा करें। यदि पति आजीविका का प्रबन्ध कर गया हो तो इससे दूने समय तक प्रतीक्षा करें। जिनकी आजीविका का प्रबन्ध नहीं है, उनके बंधु बाँधव चार वर्ष या आठ वर्ष तक उनका भरण पोषण करें।

इसके बाद प्रथम विवाह के समय में दिया हुआ धन वापिस लेकर दूसरी शादीके लिये आज्ञा देदें।

पाठक देखें कि यहाँ 'प्रमुञ्चेयुः' क्रिया है। इसका अर्थ 'छोड दें' ऐसा होता है। पति के पास भेज दें ऐसा अर्थ नहीं होता। पति के पास से पिता के पास, या पिता के पास से पति के पास आने जाने में मुञ्च या छोड देने का व्यवहार नहीं होता। इसलिये सम्बन्ध विच्छेद के लिये ही इस शब्द का व्यवहार हुआ है।

ब्राह्मणमधीयानं दश वर्षाण्यप्रजाता, द्वादश प्रजाता राजपुरुषमायु क्षयादाकाङ्क्षेत ॥३०॥ सवर्णतश्च प्रजाता नाप वादं लभेत ॥ ३१ ॥

पढने के लिये विदेश गये ब्राह्मण की सन्तानहीन स्त्री दशवर्ष तक, सन्तान वाली १२ वर्ष तक और राजकार्यप्रवासी की जीवनपर्यन्त प्रतीक्षा करे। हाँ, अगर किसी समान वर्ण के पुरुष से वह गर्भवती होजाय तो वह निन्दनीय नहीं है।

यहाँ पर प्रतीक्षा करने के बाद पति के पास जाने की बात नहीं लग सकती। जब ऐसी हालत में परपुरुष से गर्भ-वती होजाने की बात भी निन्दनीय नहीं है तब उनके पुनर्विवाह की बात का तो कहना ही क्या है।

कुटुम्बर्द्धिलोपे वा सुखावस्थैर्विमुक्ता यथेष्टं विन्देत जीवितार्थम् ॥ ३२ ॥ कुटुम्बकी सम्पत्ति नष्ट होने पर या उनके द्वारा छोड़े जाने पर जीवन निर्वाह के लिये इच्छानुसार विवाह करे।

श्रीलालजी विन्देत का अर्थ करते हैं पतिके पास जावे। हम सिद्धकर चुके हैं कि विन्देत का अर्थ 'विवाह करे' है। साथ ही इस ग्रन्थ का सारा प्रकरण ही स्त्री पुनर्विवाह का है यह बात पहिले उद्धरणों से भी सिद्ध है। 'यथेष्ट' शब्द से भी

विवाह करने की बात सिद्ध होती है। इच्छानुसार पति के पास जावे—यहाँ इच्छानुसार शब्द का कुछ प्रयोजन ही नहीं मालूम होता, जब कि, इच्छानुसार विवाह करे—इस वाक्य में इच्छानुसार शब्द आवश्यक मालूम होता है।

आपद्गतावाधर्मविवाहात्कुमारी परिगृहीतारमनाख्याय प्रोषित श्रूयमाणं सप्ततीर्थान्याकांक्षेत ॥३३॥ संवत्सरं श्रूयमाणमाख्याय ॥३४॥ प्रोषितमश्रूयमाणं पञ्चतीर्थान्याकांक्षेत ॥३५॥ दश श्रूयमाणम् ॥ ३६ ॥ एकदेशदत्त शुल्कं त्रीणितीर्थान्यश्रूयमाणम् ॥३७॥ श्रूयमाणम् सप्ततीर्थान्याकांक्षेत ॥३८॥ दत्त शुल्कं पञ्चतीर्थान्यश्रूयमाणम् ॥३९॥ दश श्रूयमाणम् ॥४०॥ ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टा यथेष्टम् विन्देत ॥४१॥ निर्धनता से आपद्ग्रस्त कुमारी (अक्षतयोनि) जिसका चार धर्मविवाहों में से कोई विवाह हुआ और उसका पति बिना कहे परदेश चला गया हो तो वह सात मासिकधर्म पर्यंत प्रतीक्षा करे। कहकर गया हो तो एक वर्ष तक। प्रवासी पति की ख़बर न मिलने पर पाँच मासिकधर्म तक। ख़बर मिलनेपर दश मासिकधर्म तक प्रतीक्षा करे। विवाह के समय प्रतिज्ञात धन का एक भाग ही जिसने दिया हो ऐसा पति विदेश जानेपर अगर उसकी ख़बर न मिले तो तीन मासिकधर्म तक और ख़बर मिलने पर सात मासिक धर्म तक उसकी प्रतीक्षा करे। अगर प्रतिज्ञात धन सारा देदिया हो तो ख़बर न मिलने पर तीन और ख़बर मिलने पर सात मासिकधर्म तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद धर्माधिकारी की आज्ञा लेकर इच्छानुसार दूसरा विवाह कर ले (यहाँ भी यथेष्ट शब्द पड़ा हुआ है।)। साथ ही धर्माधिकारीसे आज्ञा लेने की बात कही गई है। पुनर्विवाह के लिये ही धर्माधिकारी की आज्ञा की ज़रूरत है न कि पति के पास जाने के लिये। फिर

जिस पति की खबर ही नहीं मिली है उसके पास वह कैसे जा सकती है ?

दीर्घप्रवासिन प्रव्रजितस्य प्रेतस्य वा भार्यामनतीर्था-न्याकांक्षेत ॥ ४३ ॥ संवत्सर प्रजाता ॥ ४४ ॥ तत पतिसोदर्यं गच्छेत् ॥ ४५ ॥ बहुषु प्रत्यासन्न धार्मिकं भर्म समर्थं कनिष्ठम-भार्यं वा । तदभावेऽप्यसोदर्यं सपिण्डं कुल्यं वासन्नम् ॥ ४७ ॥ एतेषां एष एव क्रमः ॥ ४८ ॥

दीर्घप्रवासी, संन्यासी या मर गया हो तो उसकी स्त्री सप्त मासिकधर्म तक उसकी प्रतीक्षा करे। अगर सन्तान वाली हो तो एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे, इसके बाद पति के भाई के साथ शादी करले। जो भाई पतिका नजदीकी हो, धार्मिक हो, पालन पोषण कर सके और पत्नी रहित हो। अगर सगा भाई न हो तो पति के वंश का हो या गोत्र का हो।

यहाँ तो श्रीलाल जी पति के पास जाने की बात न कहेंगे ? क्योंकि पति तो संन्यासी हो गया है या मर गया है। फिर पति के भाई के पास जाने की आज्ञा क्यों है ? अपने भाई या पिता या श्वसुर के पास जाने की क्यों नहीं ? फिर पति का भाई भी कैसा ? जिसके पत्नी न हो। क्या अब भी श्रीलाल जी यहाँ विवाह की बात न समझेंगे।

आक्षेप (ड)-आचार्य सोमदेवजी ने जिन स्मृतिकारों के विषय में लिखा है वह सब चर्चा सगाई बाद की है। वैष्णवों के किसी ग्रन्थ में भी विधवाविवाह की आज्ञा नहीं है।

(श्रीलाल)

समाधान—"विकृतपत्यूढापि पुनर्विवाहमर्हतीति स्मृ-तिकाराः" विकृतपति के साथ विवाही गई स्त्री भी पुनर्विवाह कर सकती है। स्मृतिकारों के इस वक्तव्य में सगाई की ही धुन लगाये रहने वाले श्रीलाल जी का साहस धन्य है।

'तावद्विवाहो नैवस्याद्यावत्सप्तपदी भवेत्' तब तक विवाह नहीं होता जब तक सप्तपदी न हो जाय। इसलिये जिस स्त्री को विवाही गई कहा है वह अभी तक वाग्दत्ता ही बनी हुई है, ऐसी बात श्रीलाल जी ही कह सकते हैं। फिर पुनर्विवाह शब्द भी पड़ा हुआ है। यह पुनर्विवाह शब्द ही इतना स्पष्ट है कि विशेष कहने की ज़रूरत नहीं है। ख़ैर, श्रीलाल जी इस वाक्य का जो चाहे अर्थ करें परन्तु उनने यह बात मानली है कि सोमदेव जी को इस वाक्य में कुछ आपत्ति नहीं है। अन्यथा उन्हें इस वाक्य के उद्धृत करने की क्या ज़रूरत थी, जब कि खण्डन नहीं करना था। वैष्णवों के ग्रन्थों में पुनर्विवाह की कैसी आज्ञा है यह बात हम इसी लेख में विस्तार से सिद्ध कर चुके हैं।

प्रश्न अट्ठाईसवाँ

इस प्रश्न में यह पूछा गया था कि अगर किसी अबोध कन्या के साथ कोई बलात्कार करे तो फिर उसका विवाह करना चाहिये या नहीं। हमने उत्तर में कहा था कि ऐसी हालत में कन्या निरपराध है। इसलिये विधवा-विवाह के विरोधी भी ऐसी कन्या का विवाह करने में सहमत होंगे, क्योंकि उसका विवाह पुनर्विवाह नहीं है, आदि। श्रीलाल जी का कहना है कि 'उसी पुरुष के साथ उसका विवाह करना चाहिये या वह ब्रह्मचारिणी रहे, तीसरा मार्ग नहीं जँचता।' जब तक मिथ्यात्व का उदय है तब तक श्रीलालजी को कुछ जँच भी नहीं सकता। परन्तु श्रीलालजी, न जँचने का कारण कुछ भी नहीं बतला सके हैं इसलिये उनका यह वक्तव्य दुराग्रह के सिवाय और कुछ नहीं है।

आक्षेप (क)—ऐसी कन्या का विवाह बलात्कार करने

वाले पुरुष के साथ ही करना चाहिये। पाण्डु और कुन्ती के चरित्र से इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। (विद्यानन्द)

समाधान—पाण्डु और कुन्ती का सम्बन्ध बलात्कार नहीं था जिससे हम पाण्डु को नीच और राक्षसी प्रकृति का मनुष्य कह सकें। और ऐसी हालत में पाण्डु अपात्र नहीं कहा जा सकता। बलात्कार तो शैतानियत का उग्र और बीभत्सरूप है। बलात्कार सिर्फ़ कुशील ही नहीं है, किन्तु वह घोर राक्षसी हिंसा भी है। इसलिये बलात्कार के उदाहरण में पाण्डु कुन्ती का नाम लेना भूल है। हम पूछते हैं कि बलात्कार, विवाह है या नहीं ? यदि विवाह है तो फिर विवाह करने की आवश्यकता क्या है ? अगर विवाह नहीं है तो वह कन्या अविवाहिता कहलाई, इसलिये उसका विवाह होना चाहिये।

आक्षेप (ख)—बिलाव अगर दूध को जूठा करदे तो वह अपेय हो जाता है, यद्यपि इसमें दूध का अपराध नहीं है। इसी प्रकार बलात्कार से दूषित कन्या भी समझना चाहिये। (विद्यानन्द)

समाधान—इस दृष्टांत में अनेक ऐसी विषमताएँ हैं जो दूध के समान कन्या को त्याज्य सिद्ध नहीं करतीं। पहिली तो यह है कि दूध जड़ है। वह अगर नाली में फेंक दिया जाय तो दूध को कुछ दुःख न होगा। इसलिये हम दूध के निरपराध होने पर भी उसकी तरफ से लापर्वाह रह सकते हैं। परन्तु कन्या में सुख दुःख है। उसकी पर्वाह करना समाज का कर्तव्य है। इसलिये कन्या के निरपराध होने पर हम ऐसा कोई विधान नहीं बना सकते, जिससे उसको दुःख या उसका अपमान हो।

दूसरी विषमता भोज्य भोजक की है। स्त्री को हम

भोज्य कहें और पुरुष को भोजक, यह बात सर्वथा अनुचित है। क्योंकि जिस प्रकार स्त्री, पुरुष के लिये भोज्य है उसी प्रकार पुरुष, स्त्री के लिये भोज्य है। इसीलिये स्त्री जूठी हो और पुरुष जूठा न हो, यह नहीं कहा जा सकता। जब पुरुष जूठा होकर के भी स्त्री के लिये भोज्य रहता है तो स्त्री भी क्यों न रहेगी?

तीसरी बात यह है कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध को आक्षेपक ने भोग मान लिया है जबकि वह उपभोग है। भोग का विषय एक बार ही भोगा जाता है, इसलिये उसमें जूठापन आजाता है परन्तु उपभोग अनेकबार भोगा जाता है। सभ्य आदमी अपना ही जूठा भोजन दूसरे दिन नहीं खाता जबकि एक ही वस्त्र को अनेकबार काम में लाता रहता है। अगर स्त्री को भोज्य माना जाय तो जिस स्त्री को आज भोगा गया उसको फिर कभी न भोगना चाहिये। तब तो हर एक पुरुषको महीनेमें चार चार छः छः स्त्रियोंकी आवश्यकता पड़ेगी अन्यथा उन्हें जूठी स्त्री से ही काम चलाना पड़ेगा।

स्त्री और पुरुषके सम्बन्धमें तो दोनोंही सुखानुभव करते हैं, इसलिये कौन किसका जूठा है यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो लोग स्त्रियों में जूठेपन का व्यवहार करते हैं वे माता को भी जूठा कहेंगे, क्योंकि एक बच्चे ने एक दिन जिस माता का दूध पीलिया वह दूसरे दिन के लिये जूठी हो गई। और दूसरे बच्चे के लिये और भी अधिक जूठी हो गई। इतना ही नहीं इस दृष्टि से पृथ्वी, जल, वायु आदि जूठे कहलायेंगे, सारा संसार उच्छिष्टमय हो जायगा, क्योंकि किसी भी इन्द्रिय का विषय होने से जब पदार्थ उच्छिष्ट माना जायगा तो स्पर्श करने से पृथ्वी, जल और वायु जूठी कहलायगी और आँखों से देख लेने पर सारा संसार जूठा कहलायगा। यदि

रसना इन्द्रिय के विषय में ही उच्छिष्ट अनुच्छिष्ट का व्यवहार किया जाय तो कन्या को हम उच्छिष्ट नहीं कह सकते, क्योंकि वह चबाने खाने की वस्तु नहीं है, जिससे वह जूठे दूध के समान समझी जाय।

उन्तीसवाँ प्रश्न।

"त्रैवर्णिकाचार से तलाक के रिवाज का समर्थन होता है।"—यह बात हमने संक्षेप में सिद्ध की थी। परन्तु ये दोनों आक्षेपक कहते हैं कि उसमें तलाक की बात नहीं है। भले ही तलाक या (Divorce) आदि प्रचलित भाषाओं के शब्द उस ग्रन्थ में न हों परन्तु वैवाहिक सम्बन्ध के त्याग का विधान अवश्य है और इसी को तलाक कहते हैं—

अप्रजां दशमे वर्षे स्त्री प्रजां द्वादशे त्यजेत्।
मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥११-१६७॥
व्याधिता स्त्रीप्रजा वन्ध्या उन्मत्ता विगतार्तवा।
अदुष्टा लभते त्यागं तीर्थतो न तु धर्मतः ॥११-१६८॥

अगर दस वर्ष तक कोई सन्तान न हो तो दसवें वर्ष में, अगर कन्याएँ ही पैदा होती हों तो बारहवें वर्ष में, अगर सन्तान जीवित न रहती हो तो १५वें वर्ष में स्त्री को छोड़ देना चाहिये और कठोर भाषिणी हो तो तुरन्त छोड़ देना चाहिये ॥ १६७ ॥ रोगिणी, जिसके केवल कन्याएँ ही पैदा होती हों, बन्ध्या, पागल, जो रजस्वला न होती हो ऐसी स्त्री अगर दुष्ट न हो तो उसके साथ सभोग का ही त्याग करना चाहिए; बाकी पत्नीत्व का व्यवहार रखना चाहिए ॥ १६८ ॥ इससे मालूम होता है कि १६७ वें श्लोक में जो त्याग बतलाया है उसमें स्त्री का पत्नीत्व सम्बन्ध भी अलग कर दिया गया है। यह तलाक नहीं तो क्या है?

श्रीलाल जी कहते हैं कि दक्षिण में तलाक़ का रिवाज ही नहीं है। सौभाग्य से दक्षिणप्रान्त आज भी बना हुआ है। कोई भी आदमी वहाँ जाकर देख सकता है कि चतुर्थ पञ्चम सेतवाल आदि दिगम्बर जैनियों में विधवाविवाह और तलाक का रिवाज आमतौर पर चालू है या नहीं। बल्कि वहाँ पर विधुर कुमारियों के साथ शादी नहीं करते। इसलिये कुमारियों के साथ पहिले किसी अन्य पुरुष की शादी करदी जाती है इसके बाद तलाक दिलाया जाता है फिर उस विधुर के साथ उस तलाक वाली स्त्री की शादी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य स्त्रियाँ भी तलाक देती है, पुनर्विवाह करती हैं॥

दक्षिणप्रान्त में तलाक का अभाव बतला कर श्रीलाल जी या तो कूपमण्डूकता का परिचय दे रहे हैं या समाज को धोखा दे रहे हैं।

तीसवाँ प्रश्न।

पुराणों में विधवा-विवाह का उल्लेख क्यों नहीं मिलता, इसके कारणोंका सप्रमाण दिग्दर्शन किया था। दोनोंही आक्षेपकों से यहां पर भी कुछ खण्डन नहीं बन सका है। परन्तु इस प्रश्नमें विद्यानन्द जीने तो सिर्फ अपनी अनिच्छाही ज़ाहिर की है, परन्तु पण्डित श्रीलालजी ने अण्ड बण्ड लिख मारा है। बल्कि धृष्टताका भी पूर्ण परिचय दिया। जैनजगत् आदि पत्रों का काला मुँह करने का उपदेश दिया है। खैर, यहाँ हम संक्षेप में अपना वक्तव्य देकर आक्षेपोंका उत्तर देंगे।

अ—पुराणों में विधवा-विवाह का उल्लेख नहीं है और विधुर विवाह का उल्लेख नहीं है। परन्तु यह नहीं कहा जासकता कि पहिले जमाने में विधुर विवाह नहीं होते थे। न यह कहा जासकता है कि विधवाविवाह नहीं होते थे।

आ—आजकल भी प्रथम विवाह के समय ही विशेष समारोह किया जाता है। द्वितीय विवाहके समय विशेष समारोह नहीं किया जाता। इसी तरह पहिले ज़माने में भी स्त्री पुरुषों के प्रथम विवाह के समय विशेष समारोह होता था; द्वितीयादि विवाहों के समय नहीं। रामचन्द्र आदि के प्रथम विवाह का जैसा उल्लेख मिलता है वैसा द्वितीयादि विवाहोंका नहीं मिलता। इसी तरह स्त्रियोंके भी प्रथम विवाहका उल्लेख मिलता है द्वितीय विवाहों का नहीं।

इ—पुरुषोंके द्वितीयादि विवाहोंका जो साधारण उल्लेख मिलता है वह उन के बहुपत्नीत्व का महत्व बतलाने के लिए है। पुराने ज़मानेमें जो मनुष्य जितना बड़ा वैभवशाली होता था वह उतनी ही अधिक स्त्रियाँ रखता था। इसीलिए चक्रवर्ती के ९६ हजार, अर्द्धचक्रीके १६०००, बलभद्रके ८००० तथा साधारण राजाओंके सैकड़ों स्त्रियाँ होती थीं। स्त्रियाँ अपना पुनर्विवाह तो करतीं थीं, परन्तु उनका एक समय में एक ही पति होता था; इसलिये उनके बहुपतित्व का महत्व नहीं बतलाया जासकता था। तब उनके दूसरे विवाहका उल्लेख क्यों होता?

ई—आजकल लोग अपनी लड़कियों का विवाह जहाँ तक बनता है कुमार के साथ करते हैं, विधुरके साथ नहीं। खासकर श्रीमान् लोग तो अपनी लड़की का विवाह विधुरोंके साथ कदापि नहीं करते। परन्तु इस परसे यह नहीं कहा जासकता कि आज विधुरविवाह नहीं होता, या विवाह करने वाले विधुर जातिच्युत समझे जाते हैं। इसी प्रकार पुराने समय में लोग यथाशक्ति कुमारियों के साथ शादी करते थे और श्रीमान् लोग तो विधवाओं के साथ शादी करना ही नहीं चाहते थे। परन्तु इससे विधुर विवाह के समान विधवाविवाह का भी निषेध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि स्त्रियों को विवाह के

बाद एक कुटुम्ब छोडकर दूसरे कुटुम्ब में जाना पड़ता है। इसलिये भी श्रीमन्त घरानों की स्त्रियाँ पुनर्विवाह नहीं करती थीं, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उन्हें गरीब घरमें जाकर रहना पडता था। चूँकि श्रीमान लोगों को तो कुमारियाँ ही मिल जाती थीं इसलिये वे विधवाओं से विवाह नहीं करते थे। गरीब घरानों में होने वाले वैवाहिक सम्बन्धों का महत्व न होने से शास्त्रों में उनका उल्लेख नहीं है।

उ—प्रायः कुमारियाँ ही स्वयम्वर करती थीं और स्वयम्वर बड़े २ विग्रहोंके तथा महत्वपूर्ण घटनाओं के स्थान थे इसलिए शास्त्रों में स्वयम्वर का जिकर आता है। विधवाओं का स्वयम्वर न होने से विधवाविवाह का जिकर नहीं आता।

ऊ—हिन्दू पुराणों में द्रौपदी के पाँच पति माने गये हैं। दिगम्बर जैन लेखकोंने द्रौपदीके प्रकरणमें इस बातका खण्डन किया है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार मन्दोदरीका भी पुनर्विवाह हुआ था, परन्तु मन्दोदरी के प्रकरण में उसके पुनर्विवाह का खण्डन नहीं किया गया, इससे मालूम होता है कि दिगम्बर जैन लेखक बहुपतित्व (एक साथ बहुत पति रखना) की प्रथा के विरोधी थे, परन्तु विधवाविवाह के विरोधी नहीं थे।

ऋ—हमारे पुराण जिस युग के बने हैं उस युग में भारत में सतीप्रथा ज़ोर पकड़ रही थी, विधवाविवाहकी प्रथा लुप्त होरही थी। ऐसी अवस्थामें दिगम्बर जैन लेखकोंने जमाने का रुख देखकर विधवाविवाह वाली घटनाओंको अलग कर दिया, परन्तु कोई आदमी विधवाविवाह को जैनधर्म के विरुद्ध न समझले, इसलिये उनने विधवाविवाहका विरोध नहीं किया।

लृ—हिन्दू पुराणों से और स्मृतियों से वैदिक धर्मावलम्बियों में विधवाविवाह का रिवाज सिद्ध है। गौतम गणधर ने हिन्दू पुराणों की बहुतसी बातोंका खण्डन किया, परन्तु

विधवाविवाहका खण्डन नहीं किया। इससे भी विधवाविवाह की जैनधर्मानुकूलता मालूम होती है।

ए—प्रथमानुयोग, पुण्य और पापका फल बतलाने के लिये है, इसलिये उसमें रीतिरिवाजों का उल्लेख नहीं होता है। इसलिये उसमें ऐसे किसी भी विवाहका उल्लेख नहीं है जो असाधारण पुण्य या पुण्य फल का द्योतक न हो। ऊपर हम कह चुके हैं कि विधवाविवाह में ऐसी असाधारणता न होने से उसका उल्लेख नहीं हुआ।

ऐ—ऐसी बहुत बातें हैं जो जैनधर्मके अनुकूल हैं, शास्त्रोक्त हैं, परन्तु पुराणों में जिनका उल्लेख नहीं है—जैसे विवाहमें होनेवाली सप्तपदी, वैधव्यदीक्षा, दीक्षान्वय क्रियाएँ आदि।

ओ—परस्त्रीसेवन आदि का जिस प्रकार निन्दा करने के लिये उल्लेख है, उस तरह शास्त्रमें विधवाविवाहका खण्डन करने के लिए उल्लेख नहीं है।

औ—भगवान महावीर के द्वारा जितना प्रथमानुयोग कहा गया था उतना आजकल उपलब्ध नहीं है। सिर्फ मोटी मोटी घटनाएँ रह गई हैं इसलिए भी विधवाविवाह सरीखी साधारण घटनाओं का उल्लेख नहीं है।

उपर्युक्त बारह छेदकों में मेरे वक्तव्य का सारांश आगया है और आक्षेपों का खण्डन भी हो गया है। फिर भी कुछ बाकी न रह जाय, इसलिये आक्षेपकोंके निःसार आक्षेपोंका भी समाधान किया जाता है। लेखनशैली की अनभिज्ञता से श्रीलालजी ने जो आक्षेप किये हैं उन पर उपेक्षा दृष्टि रक्खी जायगी।

आक्षेप (क)—दमयन्तीने अपने पति नलको ढूँढने के

लिये स्वयम्वर रच दिया तो क्या हिन्दू शास्त्रोंमें पुनर्विवाह सिद्ध होगया ? [श्रीलाल]

समाधान—दमयन्ती पुनर्विवाह चाहती थी, यह हम नहीं कहते, परन्तु उस समय हिन्दुओं में उसका रिवाज था यह बात सिद्ध होजाती है। दमयन्ती के स्वयम्वर का निमन्त्रण पाकर किसीने इसका विरोध नहीं किया—सिर्फ दमयन्ती के पति नल को छोड़कर और किसी को इसमें आश्चर्य भी न हुआ। सब राजा महाराजा स्वयम्वर के लिये आये। यदि विधवा-विवाहका रिवाज न होता तो राजा महाराजा क्यों आते ?

आक्षेप (ख)—अन्तराल में चाहे धर्म कर्म उठ जाय परन्तु सजातीयविवाह नष्ट नहीं हुआ करता है। [श्रीलाल]

समाधान—अन्तरालमें धर्मकर्म उठ जाने पर भी अगर सजातीय विवाह नष्ट नहीं हुआ करता तो इससे सिद्ध हो जाता है कि सजातीय विवाह से धर्मकर्म का कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऐसी हालत में सजातीय विवाह का कुछ महत्व नहीं रहता।

सजातीय विवाह का बन्धन तो पौराणिक युग में कभी रहा ही नहीं। जातियाँ तो सिर्फ व्यापारिक क्षेत्र के लिये थीं। भगवान् ऋषभदेव के समय से जातियाँ हैं और उनके पुत्र सम्राट् भरतने ३२००० विवाह म्लेच्छ कन्याओं के साथ किये थे। तीर्थङ्करों ने भी म्लेच्छों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध किये थे। अनुलोम और प्रतिलोम दोनों तरहके उदाहरणोंसे जैन-पुराण भरे पड़े हैं। विजातीयविवाह और म्लेच्छ कन्याओं से होने वाले विवाहके फलस्वरूप होने वाली सन्तान मुक्तिगामी हुई है इसकेभी उदाहरण और प्रमाण बहुतसे हैं। यहाँ विजातीय विवाह का प्रकरण नहीं है। विजातीय विवाह की चर्चा उठाकर श्रीलाल जी धूप के डरसे भट्टी में कूद रहे हैं। अन्त-

राल में विजातीय विवाह रहे चाहे जाय परन्तु जब उस समय जैनधर्म की प्रवृत्ति नहीं थी तब वैदिकधर्म के अनुसार विधवाविवाह का रिवाज अवश्य था और पीछे के जैनी भी उन्हीं की सन्तान थे।

आक्षेप (ग)—मुसलमानों में भी सैय्यद का सैय्यद के साथ और मुगल का मुगल के साथ विवाह होता है।

(श्रीलाल)

समाधान—विधवा विवाह के विरोध के लिये ऐसे ऐसे आक्षेप करने वाले के होश हवास दुरुस्त है इस बात पर मुश्किल से ही विश्वास किया जा सकता है। सैय्यद सैय्यद से विवाह करे इसमें विधवाविवाह का खगडन क्या हो गया? बल्कि इससे तो यही सिद्ध हुआ कि जैसे मुसलमान लोग (श्रीलाल जी के मतानुसार) सजातीय विवाह करते हुये भी विधवाविवाह करते हैं तो अन्यत्र भी सजातीय विवाह होने पर भी विधवाविवाह हो सकता है। इसलिये अन्तराल में सजातीयविवाह के बने रहने से विधवाविवाह का अभाव सिद्ध नहीं होता। फिर मुसलमानों में विजातीयविवाह न होने की बात तो धृष्टता के साथ धोखा देने की बात है। जहाँगीर बादशाह की माँ हिन्दु और बाप मुसलमान था। मुसलमानों में आधे से अधिक हिन्दुरक्तमिश्रित हैं। आज भी मुसलमान लोग चाहे जिस जाति की स्त्री से शादी कर लेते हैं।

आक्षेप (घ)—विजातीयविवाह से एक दो सन्तान के बाद विनाश हो जाता है। वनस्पतियों के उदाहरण से यह बात सिद्ध है।

समाधान—आक्षेपक को वनस्पति शास्त्र या प्राणि शास्त्र का ज़रा अध्ययन करना चाहिये। प्राणिशास्त्रियों ने

विजातीय सम्बन्धों से कैसी विचित्र जातियों का निर्माण किया है और उनकी कैसी वंशपरम्परा चल रही है, इस बात का पता आप को थोड़े अध्ययन से ही लग जाता। किसी मूर्ख माली की अधूरी बात के आधार पर सिद्धान्त गढ़ लेना आप ही सरीखे कूपमंडूक का काम हो सकता है। ख़ैर, मान लीजिये कि विजातीय सम्पर्क की वंश परम्परा नहीं चलती, परन्तु मनुष्य में तो विजातीयविवाह की वंशपरम्परा चलती है। जहाँगीर हिन्दू माँ और मुसलमान बाप से पैदा हुआ था। इसके बाद के भी अनेक बादशाह इसी तरह पैदा हुए जिनकी परम्परा आज तक है। कई शताब्दियों तक तो वह वंश राज्य ही करता रहा। बाद में १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध के बाद भी उसी वंश के बहुत से मनुष्य ग़रीबी की हालत में गुज़ार करते थे और उनमें बहुत से आज भी बने हुए हैं। यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि विजातीयविवाह की सन्तान परम्परा अधिक नहीं चलती तो इससे विजातीय विवाह का निषेध नहीं होगा किन्तु मनुष्यों में होने वाला विजातीय-विवाह, विजातीय नहीं है अर्थात् मनुष्यमात्र एक जाति के हैं यही बात सिद्ध होगी, क्योंकि मनुष्यों में विजातीय सम्बन्ध से भी वंश परम्परा चलती रहती है।

आक्षेप (ङ)—क्या श्रेणिक के समय में रामायण आदि ग्रन्थ बन गये थे ?

समाधान—ये ग्रन्थ बहुत प्राचीन है यह बात ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है। साथ ही अपने पद्मपुराण में भी यह लिखा है।

देखिये पद्मपुराण द्वितीय पर्व—

श्रूयंते लौकिके ग्रन्थे राक्षसा रावणादयः ॥ २३० ॥

एवंविधं किलग्रन्थं रामायणमुदाहृतं ॥ २३७ ॥
अश्रद्धेयमिदं सर्वं वियुक्तमुपपत्तिभिः ॥ २४८ ॥

ये सब श्रेणिक के मुंह से निकले हुए वाक्य हैं। रामायण का नाम तक आया है। श्रेणिक ने रामायण की अन्य बातों की तो निन्दा की, परन्तु विधवाविवाह की कहीं भी निन्दा न की, न गौतम ने ही निन्दा की, इससे विधवाविवाह की जैनधर्मानुकूलता सिद्ध होती है।

आक्षेप (च)—जब कुछ न बना तो एक श्लोक ही बना कर लिख दिया। इस मायाचार का कुछ ठिकाना है !

(श्रीलाल)

समाधान—

यथा च जायते दुःखं रुद्धायामात्मयोषिति।
नरान्तरेण सर्वेषामियमेव व्यवस्थितिः ॥ १४-१६२ ॥

इस श्लोक में यह बताया गया है, कि परस्त्री रमण से परस्त्री के पति को कष्ट होता है इसलिये परस्त्री सेवन नहीं करना चाहिये। यह श्लोक पद्मपुराण का है जिसे श्रीलाल जी ने मेरा कह कर मुझे मनमानी गालियाँ दी हैं। इतना ही नहीं ऐसे अच्छे श्लोक के खण्डन करने की भी असफल चेष्टा की है। परन्तु इससे हमारा नहीं पद्मपुराण का खण्डन और आचार्य रविषेण का अपमान होता है।

इस श्लोक से यह बात सिद्ध होती है कि परस्त्री रमण से पति को कष्ट होता है, इसलिये वह पाप है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि विधवाविवाह से पति को कष्ट नहीं होता, क्योंकि पति मर गया है इसलिये विधवाविवाह पाप नहीं है। ऐसी सीधी बात भी श्रीलाल जी न समझें तो बलिहारी इस समझ की।

श्रीलाल जी ने यह स्वीकार किया है कि 'अपनी विवा-

हिता को छोड कर शेष सब में व्यभिचार है चाहे वह कुमारी हो सधवा हो या विधवा हो'। श्रीलालजी के इस वक्तव्य का हम पूर्ण समर्थन करते हैं और इसीसे विधवा-विवाह का समर्थन भी हो जाता है। जिस प्रकार कुमारी के साथ रमण करना व्यभिचार है, किन्तु कुमारी को विवाहिता बना कर रमण करना व्यभिचार नहीं है। उसी प्रकार विधवा के साथ रमण करना व्यभिचार है परन्तु विधवा के साथ विवाह कर लेने पर उसके साथ रमण करना व्यभिचार नहीं है। विधवा के साथ विवाह करने पर उसे अविवाहिता नहीं कहा जा सकता, जिससे यहाँ व्यभिचार माना जावे। इस तरह श्रीलाल जी के वक्तव्य के अनुसार भी विधवा-विवाह उचित ठहरता है।

आक्षेप (छ)—महर्षिगण आठ विवाह बताने वालों की हम मानें या नौमी प्रकार का ये विधवा-विवाह बनाने वाले तुम्हारी मानें।

समाधान—विधवा-विवाह नवमा भेद नहीं है किन्तु जिस प्रकार कुमारीविवाह के आठ भेद हैं उसी प्रकार विधवा-विवाह के भी आठ भेद हैं। इस विषय में पहिले विस्तार से लिखा जा चुका है।

आक्षेप (ज)—प्राचीन समय में लोग विधवा होना अच्छा नहीं समझते थे। यदि पहिले समय में विधवाविवाह का रिवाज होता तो फिर विधवा शब्द से इतने डरने की कोई आवश्यकता नहीं थी। (विद्यानन्द)

समाधान—आज मुसलमानों में ईसाइयों में या अन्य किसी समुदाय में, जिसमें कि विधवाविवाह होता है, क्या विधवा होना अच्छा समझा जाता है? यदि नहीं तो क्या वहाँ भी विधवा-विवाह का अभाव सिद्ध हो जायगा? आजकल या

प्राचीन ज़माने में क्या लोग अपनी स्त्री का मरजाना अच्छा समझते थे ? यदि नहीं तो विधुर होना भी बुरा कहलाया। तब तो विधुर-विवाह का भी अभाव सिद्ध हो जाना चाहिये।

प्राचीन ज़माने में विधवा को अच्छा नहीं समझते थे, इससे विधवाविवाह का अभाव सिद्ध नहीं होता बल्कि सद्भाव सिद्ध होता है। विधवा होना अच्छा नहीं था, इसलिये विधवा विवाहके द्वारा उसे सधवा बनाते थे। क्योंकि जो चीज़ अच्छी नहीं होती उसे हटाने की कोशिश होती है। निरोग अगर रोगी हो जाय तो उसे फिर निरोग बनाने की कोशिश की जाती है। इसी प्रकार सधवा अगर विधवा हो जाय तो उसे फिर सधवा बनाने की कोशिश की जाती थी। इस तरह विद्यानन्द का तर्क भी विधवा-विवाह का समर्थन ही करता है।

इस प्रश्न में कुछ आक्षेप ऐसे भी हैं जो कि पहिले भी किये जा चुके हैं और जिनका उत्तर भी विस्तार से दिया जा चुका है। इसलिये अब उनकी पुनरुक्ति नहीं की जाती।

इकतीसवाँ प्रश्न।

'सामाजिक नियम या व्यवहार धर्म बदल सकते हैं या नहीं' इसके उत्तर में हमने कहा था कि बदल सकते हैं, क्योंकि व्यवहार धर्म साधक है। जिस कार्य से हमें निश्चय धर्म की प्राप्ति होगी वही कार्य व्यवहार धर्म कहलायगा। प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और प्रत्येक समय की परिस्थिति एकसी नहीं होती। इसलिये सदा और सब के लिये एकसा व्यवहार धर्म नहीं हो सकता। अनेक प्रकार के मूलगुण, कभी चार संयम, कभी पांच संयम, किसी को कमण्डलु रखना,

किसी को नहीं रखना आदि शास्त्रोक्त विधान व्यवहार धर्म की विविधता बतलाते है।

सामाजिक नियमों के विषय में विद्यानन्द कहते हैं कि "सामाजिक नियम व्यवहार धर्म के साधक हैं अतः उनमें तबदीली करना मोक्ष मार्ग की ही तबदीली है" "सामाजिक नियमों में रद्दोबदल करने और मोक्षमार्ग में रद्दोबदल करने का एक ही अर्थ है।" परन्तु इनके सहयोगी पण्डित श्रीलाल जी कहते हैं कि "सामाजिक नियम भिन्न भिन्न देशों में और भिन्न भिन्न कालों में और भिन्न भिन्न जातियों में प्रायः भिन्न भिन्न हुआ करते हैं।...... लौकिक विधि उसी रूप में करना चाहिये जैसी कि जहाँ हो"। इस तरह ये दोनों आक्षेपक आपस में ही भिड गये है। यह कहने की जरूरत नहीं कि विद्यानन्दजी ने सामाजिक नियम का कुछ अर्थ ही नहीं समझा और वे प्रलापमात्र कर गये है। सामाजिक नियमों के विषय में श्रीलालजी का कहना ठीक है और वह हमारे वक्तव्य की टीका मात्र है। श्रीलालजी कहते हैं कि सामाजिक नियम धर्म की छाया में ही रहते हैं। हमने भी लिखा था कि सामाजिक नियम धर्मपोषक होना चाहिये। अब व्यवहार धर्मविषयक मत-भेद रह जाता है, इसलिये उसके आक्षेपों का समाधान किया जाता है।

आक्षेप (क)—व्यवहार धर्म निश्चय का साधक है। न ससारी आत्मा की अवस्था पलटती है न निश्चयधर्म की, न उसके साधक व्यवहार धर्म की। (श्रीलाल)

समाधान—किसी भी द्रव्य की शुद्धावस्था दो तरह की नहीं होती परन्तु अशुद्धावस्था अनेक तरह की होती है, क्योंकि शुद्धावस्था स्वापेक्ष है और अशुद्धावस्था परापेक्ष है। पर द्रव्य अनन्त हैं इसलिये उनके निमित्त से होने वाली

अशुद्धि भी अनन्त तरह की है। इसलिये उनका उपचार भी अनन्त तरह का होगा। लोक और शास्त्र दोनों ही जगह साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता हुआ करती है। श्रीलालजी का यह कहना बिलकुल झूठ है कि संसारी आत्माओं की अवस्था नहीं पलटती। अगर संसारी आत्मा की अवस्था न पलटे तो सब संसारियों का एक ही गुणस्थान, एक ही जीवसमास और एक ही मार्गणा होना चाहिये। निम्नलिखित बातों पर दोनों आक्षेपकों को विचार करना चाहिये।

१—मनुष्य अगर अणुव्रत पाले तो वह पानी छानकर और गर्म करके पियेगा, जब कि अणुव्रती पशु ऐसा न कर सकेगा। वह बहता हुआ पानी पीकर भी अणुव्रती बना रहेगा। व्यवहार धर्म अगर एक है तो पशु और मनुष्य की प्रवृत्ति में अन्तर क्यों ?

२—कोई कमण्डलु अवश्य रक्खेगा, कोई न रक्खेगा, यह अन्तर क्यों ?

३—किसी के अनुसार तीन मकार और पाँच फल का त्याग करके ही [बिना अणुव्रतों के] मूलगुण धारण किये जा सकते हैं, किसी मत के अनुसार मधु सेवन करते हुए भी मूल-गुण पालन किये जा सकते हैं क्योंकि उसमें मधु के स्थान पर द्यूत का त्याग बतलाया है। इस तरह के अनेक विधान क्यों हैं ? अगर कहा जाय कि इस में सामान्य विशेष अपेक्षा का भेद है तो कौनसा सामान्य और कौनसा विशेष है ? और इस अपेक्षा भेद का कारण क्या है ?

४—२२ तीर्थङ्करों के तीर्थ में चार संयमों का विधान क्यों रहा ? और दो ने पाँच का विधान क्यों किया ? [कोई सामायिक का पालन करे, कोई छेदोपस्थापना का, यह एक

बात है, परन्तु छेदोपस्थापना का विधान न होना दूसरी बात है।]

ऐसे और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु इन सबके उत्तरमें यही कहा जासकता है कि जिस व्यक्ति में जितनी योग्यता होती है या जिस युग में जैसे व्यक्तियों की बहुलता रहती है व्यवहार धर्म का रूपभी वैसा ही होता है। हाँ, व्यवहार धर्म हो कैसा भी, किंतु उस की दिशा निश्चय धर्म की ओर रहती है। अगर निश्चय साधकता सामान्य की दृष्टिसे व्यवहार धर्म एक कहाजाय तो किसीको विवाद नहीं है परन्तु बाह्यरूप की दृष्टि से व्यवहार धर्म में विभिन्नता अवश्य होगी।

अब इस कसौटी पर हम विधवाविवाह को कसते हैं। धार्मिक दृष्टि से विवाह का प्रयोजन यह है कि मनुष्य की कामवासना सीमित हो जाय। इस प्रयोजनकी सिद्धि कुमारी विवाह से भी है और विधवाविवाह से भी है। निश्चय साधकता दोनों में एक समान है। अगर दोनों आक्षेपक निश्चय साधकता सामान्य को दृष्टि में रखकर व्यवहार धर्म को एक तरह का मानें तो कुमारीविवाह और विधवाविवाह दोनों एक सरीखे ही रहेंगे। दोनों की समानता के विषय में हम पहिले भी बहुत कुछ कह चुके हैं।

आक्षेप (ख)—जो लोग अजितनाथसे लेकर पार्श्वनाथ तक के शासन में छेदोपस्थापनाका अभाव बतलाते हैं उनकी विद्वत्ता दयनीय है। (विद्यानन्द)

समाधान—मेरी विद्वत्ता पर दया न कीजिये, दया कीजिये उन बट्टकेर स्वामी की विद्वत्ता पर जिनने मूलाचारमें यह बात लिखी है। देखिये—

बावीस तित्थयरा सामाइय संजम उवदिसन्ति ।
छेदुव ठावणियंपुण भयवं उसहो य वीरोय ॥ ५३३ ॥

'अर्थात् बाईस तीर्थङ्कर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं और भगवान् ऋषभ और महावीर छेदोपस्थापना का। अगर आप वट्टकेर स्वामी की विद्वत्ता पर दया न बतला सकें तो अपनी विद्वत्ता को दयनीय बतलायें, जो कूप मण्डूक की तरह हंस के विशाल अनुभव को दयनीय बतला रही है।

आक्षेप (ग)—विना व्यवहारका आलम्बन लिये मोक्ष मार्ग के निकट पहुंच नहीं हो सकती। (विद्यानन्द)

समाधान—व्यवहार का निषेध मैं नहीं करता, न कहीं किया है। यहाँ तो प्रश्न व्यवहारके विविध रूपों पर है। कुमारीविवाह में जैसी व्यवहार धर्मता है वैसी ही विधवाविवाह में भी है। यहाँ व्यवहार के दो रूप बतलाये हैं—व्यवहार का अभाव नहीं किया गया।

आक्षेप (घ)—जब पथ भ्रष्टता होचुकी तो लक्ष्य तक पहुंच ही कैसे होगी?

समाधान—मार्ग की विविधता या यान की विविधता पथभ्रष्टता नहीं है। कोई बी० बी० सी० आई० लाइनसे देहली जाता है, कोई जी० आई० पी० लाइन से, कोई एक्सप्रेस से, कोई मामूली गाड़ी से, कोई फर्स्टक्लास में, कोई थर्ड-क्लास में, परन्तु इन सब में पर्याप्त विविधता होने पर भी कोई पथभ्रष्ट नहीं है क्योंकि समय-भेद मार्ग-भेद होने पर भी दिशाभेद नहीं है। विधवाविवाह, कुमारीविवाह के समान निरर्गल कामवासनाको दूर करता है। इसलिये दोनोंकी दिशा एक है, दोनों ही लक्ष्यके अनुकूल हैं, इसलिये उसे पथ-भ्रष्टता नहीं कह सकते।

इस तरह विधवाविवाह जैनधर्म के अनुकूल सिद्ध हो गया। मैं विधवाविवाह के प्रत्येक विरोधी को निमन्त्रण देता हूँ कि उसे विधवाविवाह के विषय में अगर किसीभी तरहकी शङ्का हो तो वह जरूर पूछे। मैं उसका अन्त तक समाधान करूँगा।

* आवश्यक सूचना *

देहली में एक जैनबाल-विधवा-विवाह-
यक सभा स्थापित है। जो सज्जन जो
वाविवाह के सिद्धान्त से सहमत हों या
सभा के मेम्बर होना चाहें या जिन्हें
लड़के या लड़की का ऐसा सम्बन्ध
ना स्वीकार हो, वह नीचे लिखे पते पर
व्यवहार करें:—

मन्त्री—
जैन बाल-विधवाविवाह सहायक सभा
दरीबा कलाँ, देहली।

इस पुस्तक के प्रकाशन में अन्यत्र प्रकाशित महानुभावों
रिक्त श्रीमान बाबू राजकृष्ण प्रेमचन्द कोल मरचेन्ट
०) प्रदान किये हैं—धन्यवाद।

—मन्त्री

अन्य उपयोगी पुस्तकें

१ शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण—लेखक-श्रीमान् पण्डित जुगल किशोर जी मुख्तार — मूल्य

२. विवाह क्षेत्र प्रकाश " ... — मूल्य

३. जैनजाति सुदशा प्रवर्त्तक—लेखक-श्रीमान बाबू सूरजभान जी ... ... ।

४. मंगला देवी- " " "

५ कुवारों की दुर्दशा " " "

६ गृहस्थ धर्म— " " "

७ राजदुलारी " " "

८. विधवा-विवाह और उन के संरक्षकों से अपील लेखक—ब्र० शीतल प्रसाद जी "

९. उजलेपोश बदमाश—लेखक-पं० अयोध्याप्रसाद गोयलीय देहली ... .. "

१० अबलाओं के आँसू " " "

११. पुनर्जन्म मीमांसा—ले०-बाबू भोलानाथ मुख्तार बुलन्दशहर ... "

१२. विधवा-विवाह समाधान ले०-श्री० सव्यसाची "

१३ सुधारसंगीतमाला—ले०-पं० भूरामल मुशरफ जैपुर ... ... "

१४. जैन-धर्म और विधवा-विवाह (पहिला भाग) "

१५. जैन-धर्म और विधवा विवाह (दूसरा भाग) "

मिलने का पता :—

ला० जौहरीमल जैन सराफ, दरीबा कलाँ, दे[हली]